

सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्षशास्त्र प्रवचन

षष्ठ भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'मोक्षशास्त्र प्रवचन षष्ठ भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें मोक्षशास्त्र के सूत्र 10 के प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डॉ. उदयजी मेहता सीएटल अमेरिका के द्वारा रु. 2500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9424414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायीर्थं पूज्यं श्री मनोहरजी वर्णीं ‘सहजानन्द’ महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥१॥
 मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।
 अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥
 मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
 किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥
 सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।
 निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥
 जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
 राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥
 होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
 दूर हटो परकृत परिणाम, ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम॥
 अहिंसा परमोर्धर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥१॥
 हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
 हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानंद०॥२॥
 हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
 पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥३॥
 आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
 निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥४॥

Contents

प्रकाशकीय.....	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	3
ॐ	5
मोक्षशास्त्र प्रवचन	5
सूत्र 10.....	5
॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त ॥.....	116

ॐ

मोक्षशास्त्र प्रवचन

षष्ठ भाग

सूत्र 10

तत्प्रमाणे ॥१०॥

तत्प्रमाणे सूत्र में अज्ञानरूपों की प्रमाणता का तथा प्रमाणों की मनमानी संख्या व रचना का निराकरण—९ वें सूत्र में बताया था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँचों ही ज्ञान हैं। प्रत्येक ज्ञान में उसका विस्तार से वर्णन करने के बाद अब १० वें सूत्र का अवतार हो रहा है। सूत्र है ‘‘तत् प्रमाणे’’। यह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। जिस ज्ञान के बारे में ५ ज्ञानविशेष बताये थे वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। इस मूत्र में मुख्यतया दो बातें बतायी गई हैं—जैसे पद दो हैं—तत् प्रमाणे, तत् का अर्थ है—वह ज्ञान, प्रमाणे का अर्थ है दो प्रमाण रूप है। तो यहाँ एक का अवधारण दोनों जगह लगेगा। वह ही दो प्रमाण रूप है। वह दो प्रमाणरूप ही है। इन दो एकारों से किन-किन मतों का निराकरण होता? सो सब परखते रहना। वह ज्ञान ही दो प्रमाण रूप है अर्थात् अज्ञान नहीं है प्रमाणरूप, किन्तु ज्ञान ही है प्रमाणरूप। तो जो लोग ज्ञान को छोड़कर अन्य-अन्य बातों को प्रमाण माना करते हैं उनके मंतव्य का निराकरण हो जाता है। कोई कहता है कि इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, कोई कहता है कि इन्द्रियों का सत्त्विकर्ष प्रमाण है, कोई कहता है कि नाना पदार्थों का समूह जुट जाये वह प्रमाण है। इस प्रकार जो-जो अज्ञान को प्रमाण मानते थे उन सबके मंतव्य का निराकरण हो जाता है। ज्ञान ही प्रमाणरूप है, अज्ञान प्रमाणरूप नहीं होता। दूसरे पद में जो एव का अवधारण किया है वह दो प्रमाणरूप ही है। इससे प्रमाण की जो मनमानी संख्या लोग मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है? प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे ही दो प्रमाण होते हैं। इनके भेद किए जाये तो परोक्ष तो हुए मति स्मृति संज्ञा, चिंता, अनुमान, आगम अथवा श्रुत कहो और प्रत्यक्ष में हुआ अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, इनसे अतिरिक्त या अन्य-अन्य नामों से जो संख्यायें मानी जाती हैं वे सही नहीं हैं। इस सूत्र में इन दोनों बातों का बहुत विवेचन चलेगा। ज्ञान ही प्रमाण है अज्ञान नहीं। ज्ञान एक ऐसे ही दो प्रमाण संख्याओं में है, अन्यरूप से नहीं। तो स्वरूप और संख्या—इन दोनों के सम्बन्ध में जो मंतव्यों में भेद है, नानापन है, इन सबका निराकरण हो जाता है। तो इस सूत्र से दो बातों पर प्रकाश डाला है कि ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नहीं। और समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष इनमें से न कुछ है। उसके अलावा और कुछ नहीं।

इन्द्रियों की प्रमाणाधिकतमता होने से प्रमाणरूपता का कुछ दार्शनिकों द्वारा प्रस्ताव—अब सूत्र विरुद्ध दो मंतव्यों में से पहली बात का विवरण किया जा रहा है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान प्रमाण नहीं है किन्तु इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। क्योंकि प्रमाण का अर्थ है जो प्रमा का साधकतम हो, जो जानकारी में खास साधकतम हो उसे कहते हैं प्रमाण। तो इन्द्रियों के बिना कोई ज्ञान मिलना नहीं। जब इन्द्रियाँ जानने में काम आ रही हैं तो हम

तो जानते हैं कि इन्द्रियों ही प्रमाण हैं, अन्य कुछ प्रमाण नहीं। कभी योगियों को सातिशय प्रत्यक्ष होता है तो वहाँ भी योगजधर्मानुगृहीत इन्द्रियां ही प्रमाणभूत हैं। और देखो यदि ज्ञान को प्रमाण कहेगे तो ज्ञान तो संशयज्ञान भी ज्ञान है, वह भी प्रमाण हो बैठेगा। विपरीत ज्ञान भी ज्ञान है। वह भी प्रमाण हो जायेगा। ज्ञान को प्रमाण मानने में बड़ा दोष आता है, इसलिए ज्ञान प्रमाण नहीं है किन्तु इन्द्रियां प्रमाण हैं, ऐसा ये नैयायिक मीमांसक सिद्धान्त वाले कह रहे हैं। चूंकि ज्ञान को प्रमाण मानने में दोष आता, अतएव ज्ञान प्रमाण नहीं, किन्तु इन्द्रियां प्रमाण हैं। और ये ज्ञान ज्ञान चिलाने वाले लोग इन्द्रियों से कोई काम लें नहीं और ज्ञान करके बता दें। जब ज्ञान में साधकतम इन्द्रियां हैं तो इन्द्रियां ही प्रमाण हैं, अन्य कुछ प्रमाण नहीं। ज्ञान प्रमाण होता तो जो कुछ भी ज्ञान हो जाये वह सारा प्रमाण बन जाना चाहिए। कभी-कभी आंखों में ऐसो बीमारी हो जाती कि चन्द्रमा दो-दो, तीन-तीन चार-चार दिखने लगते। तो ज्ञान तो हो रहा कि वे चार चन्द्रमा है, ज्ञान हुआ तो उसे प्रमाण मान लो। फिर क्यों कहते ऐसा कि तुम को गलत दिख रहा है। क्यों गलत हो रहा? ज्ञान ही तो हो रहा। सो ज्ञान प्रमाण नहीं, किन्तु इन्द्रियों ही प्रमाण हैं। ऐसी यहाँ नैयायिक अपनी शङ्का रख रहे हैं।

इन्द्रियप्रमाणत्व की आरेका पर मीमांसा का प्रारम्भ—अब उक्त शङ्का के सम्बन्ध में विचार कीजिये। तत् प्रमाणे, इस सूत्र में यह बात कही जा रही है कि वह ज्ञान दो प्रमाण रूप है। ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान नहीं। ज्ञान दो प्रमाण रूप है, अन्य अटपट संख्यारूप नहीं। इस तरह इसमें दो बातों का दिग्दर्शन किया है। तो इस विषय में जो शङ्काकार ने शङ्का रखी थी कि हमें तो ज्ञान प्रमाण नहीं जंचता, किन्तु ज्ञान करने में जो कारण पड़ता है, साधकतम है ऐसी जो इन्द्रियाँ हैं वे हमको तो प्रमाण लग रही हैं। तो ठीक ही है। संसारी जीवों को ज्ञान से प्रेम नहीं है, इन्द्रिय से प्रेम है। इसलिए हर बात में इन्द्रिय को सामने रखकर ज्ञान में लेते हैं। सभी लोग सोचो अपने-अपने चित्त में कि हम को ज्ञान से प्रेम है या इन्द्रिय से? इन्द्रिय से? इन्द्रिय के विषयभूत रूप, रस, गंध, स्पर्श, इनमें कितनी अधिक प्रीति जगती है? ज्ञान की कभी कोई सुध लेता है? इन्द्रिय में रुचि है इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियजन्य सुख में विश्वास बन रहा है। तो यहाँ प्रमाण को भी एक शङ्काकार बतला रहा कि ये इन्द्रियां प्रमाण हैं और युक्ति यह देते कि ज्ञान को प्रमाण मानेंगे तो बड़ा दोष आयेगा। संशय ज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा। जब दो तीन चन्द्रमाओं का ज्ञान होता किसी को तो वह ज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा, ऐसे अनेक जगह दोष आने हैं। तो इन प्रस्तुत आपत्तियों का तो फिर निराकरण करेंगे। अभी तो यह समझलें कि इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं, ज्ञान प्रमाण नहीं, इसमें कुछ तथ्य है या नहीं? इसका दार्शनिक विधि से अनुमान भी बनाया शङ्काकार ने कि जो ज्ञान करने में साधकतम हो वही प्रमाण कहलाता है। जैसे किसी चीज को समझाने के लिए विशेषण प्रमाण होता है। जैसे कोई यहाँ पगड़ी बाँधे बैठा है, उसका नाम लेकर किसी से कहा जाये कि अमुक पुरुष को यहाँ बुला लावो, और वह उसे जानता था नहीं, सो पूछ बैठा कि कौन है वह पुरुष? तो बताया गया? जो पगड़ी वाला है वह अमुक पुरुष है। तो वह जाता है और उसे बुला लाता है। तो देखिये पगड़ी वाला यह विशेषण बन गया। तो जैसे विशेष को जानने के लिये विशेषण प्रमाण है, ऐसे ही समस्त पदार्थों को जानने में इन्द्रियां प्रमाण हैं, क्योंकि इन्द्रिय द्वारा काम बना तब उसका ज्ञान हो

सका । अब इसके उत्तर में सुनो—शङ्काकार क्या कह रहा कि इन्द्रियां प्रमाण हैं । देखो दार्शनिक शास्त्र में कुछ बातें समझने के लिए दो पद्धतियां बनती हैं—एक तो अनेक विकल्प करके उन विकल्पों में जवाब देना । यहाँ यह नहीं सोचना कि शङ्काकार पहले विकल्प में ही परेशान हो जायेगा, इस कारण विकल्प उठाये जाते हैं । और परेशान करने का आचार्यों का मंतव्य होता नहीं, लेकिन विकल्प द्वारा उत्तर का स्पष्टीकरण होता है और दूसरी पद्धति है अविनाभावी हेतु देना, सो इसी आधार पर इन्द्रिय प्रमाणता पर विचार चलेगा ।

भौतिक इन्द्रियों में प्रमाणत्व की असंभवता—पहले यह इन्द्रियप्रमाणत्ववादी बतायें कि इन्द्रियां यदि प्रमाण हैं तो वे इन्द्रियां अचेतन हैं या चेतन हैं? जिन इन्द्रियों को तुम प्रमाण बतला रहे हो वे इन्द्रियां अचेतन हैं या चेतन हैं? भौतिक हैं या चेतन है? यदि कहो कि इन्द्रियां तो भौतिक हैं तो भौतिक इन्द्रियाँ कभी प्रमाण नहीं बन सकतीं । जैसे घट पट, खम्भा, दरी, चौकी आदिक ये प्रमाण हैं क्या? प्रमाण तो नहीं हैं । जब भौतिक हैं ये इन्द्रियां तो इन्द्रियां कैसे प्रमाण बन जायेंगी याने ज्ञान का साधकतम कैसे हो जायेंगी? और यदि भौतिक इन्द्रियां प्रमाण बन जाये, ज्ञान बन जायें तो फिर जो पुरुष मर गया है उसकी द्रव्येन्द्रियां भी ज्ञान बन जाये, प्रमाण बन जायें । फिर वह उन इन्द्रियों के द्वारा कैसे नहीं ज्ञान पाता? तो यहाँ शङ्काकार थोड़ी अपनी कुछ सफाई दे रहा हैं तो वे भौतिक इन्द्रियां जो कि ज्ञान की साधकतम हैं और वे प्रमाण हैं, किन्तु जब वह प्रमाण से अधिष्ठित हों याने आत्मा से अधिष्ठित हों तब वे भौतिक इन्द्रियां प्रमाण होती हैं । जैसे लोग कह देते ना कि जब तक जीव है तब तक ये इन्द्रियां काम करती हैं, ज्ञान करती हैं । प्रमाण होता है, तो ऐसे ही जब तक प्रमाता ज्ञाता आत्मा के द्वारा अधिष्ठित हैं इन्द्रियां, तब तक ये इन्द्रियां प्रमाणभूत हैं । ऐसी बात शंकाकार ने रखी तो इस विषय में यह बात आसानी से सोची जा सकती है कि जब यह शंकाकार कह रहा है कि जब तक जीव है इन इन्द्रियों में, इस शरीर में तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण हैं तो जब जीव सोया हुआ है, जब कोई आदमी सोया हुआ है तो बताओ वहाँ जीव है कि नहीं? मरा तो नहीं वह । तो जीव जब तक है तब तक इन्द्रियां प्रमाण हैं ऐसा कहने से तो सोये हुए पुरुष की इन्द्रियां भी प्रमाण बन जायें और सोते हुए मनुष्यों की इन्द्रियों से प्रमाण तो नहीं होता कुछ, ज्ञान तो नहीं होता कुछ । तो यह भी कथन ठीक नहीं कि जब तक जीव सहित है तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण हैं । यदि शङ्काकार यह कहे कि थोड़ीसी एक बात और जोड़ दो । जब तक जीव प्रयत्न वाला बन रहा है तब तक इन्द्रियां प्रमाण हैं । अब धीरे-धीरे शङ्काकार कुछ ठिकाने की ओर चल रहा है, मगर अपनी पर्याय-बुद्धि की कुटेव नहीं छोड़ रहा । अब यह कह रहे हैं कि जब तक जीव है इस शरीर में, इन्द्रियों में और जब तक जीव का कोई प्रयत्न चलता है तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण हैं । तो प्रयत्नवान जीव से अधिष्ठित इन्द्रियाँ प्रमाणभूत हैं । ऐसा शङ्काकार का यह सुधार हो होकर प्रस्ताव आया है । तो अब पूछते हैं कि तुम कुछ-कुछ ठीक तो कह रहे हो कि व्यापार करते हुए जीव से प्रतिष्ठित इन्द्रियां प्रमाण हैं, पर वह व्यापार, वह प्रयत्न, वह पौरुष क्या चीज है? जैसे व्यापार से सहित होने पर याने जैसा प्रयत्न युक्त होने से इन्द्रियां काम करती हैं, ज्ञान होता है, प्रमाण बनता है वह प्रयत्न है क्या? पहले यह ही बतलाओ कि वह प्रयत्न अचेतन है या चेतन? जीव जो प्रयत्न करता है जानने के लिए, जिस प्रयत्न से सहित होकर ये इन्द्रियां प्रमाण बनती हैं वह प्रयत्न अचेतन है कि चेतन? यदि कहो कि अचेतन है तो प्रयत्न करने पर भी उसका धेला नहीं उठेगा, क्योंकि अचेतन है प्रयत्न,

तो अचेतन अकिञ्चित्कर है। जैसे घट-पट आदिक अचेतन हैं और ये चाहे कितना ही व्यापार करें, पर उससे क्या कुछ ज्ञान उठता है? तो आत्मा का ही प्रयत्न, जिस प्रयत्न से सहित होकर इन्द्रियाँ प्रमाण बनती हैं वह प्रयत्न यदि अचेतन है तो वह अकिञ्चित्कर है। वह प्रमाण नहीं बन सकता, उससे कुछ सहयोग नहीं मिल सकता, और यदि कहो कि इसमें वह प्रयत्न चेतन है, जिस प्रयत्न से सहित होने पर ये इन्द्रियाँ प्रमाणभूत होती हैं। तो आचार्यदेव कहते हैं कि लो अब ठिकाने आये। देखो जिस प्रयत्न को तुम चेतन कहते हो और जिस चेतन वाले इन्द्रिय को प्रमाण कहते हो उसी का नाम तो भावेन्द्रिय है और भावेन्द्रिय प्रमाणभूत है।

भौतिक इन्द्रियों का परिचय—देखो जैनशासन के अनुसार इन्द्रियां दो प्रकार की हैं—(१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय तो शरीर की रचनारूप हैं जो दिख रही हैं। ये कान, नाक, आँख, जीभ और यह सारा चमड़ा ये पांचों हैं द्रव्येन्द्रिय। ये द्रव्येन्द्रिय पौद्गलिक हैं, भौतिक हैं, तो इन इन्द्रियों में भी देखो नामकर्म की कैसी रचना है कि सब इन्द्रियों के साथ निर्वृत्ति और उपकरण लगे हुए हैं। निर्वृत्ति तो है वहु जो खास इन्द्रिय है ना, जिसके निमित्त से ज्ञान किया जाता है उसकी रचना और उपकरण क्या है? उसकी रक्षा करने के लिए जो आस-पास की और चौंजें बनी हैं वे हैं उपकरण। जैसे आप बतला सकते हैं क्या कि आँख कितनी बड़ी है? आप तो उतनी बड़ी बोलेंगे जितनी कि पूरी आँख दिख रही है, पर आँख उतनी बड़ी नहीं है। उस आँख में जो सफेदी है वह भी आँख है क्या? अच्छा तो जितना यह काला है वह तो आँख होगी? नहीं, नहीं जितना यह आँख का काला भाग दिख रहा है वह भी आँख नहीं है। तो उस काले के अन्दर जो और काला है वह आँख होगी? हां-हां वह है द्रव्येन्द्रिय। तो अब देखो आँख तो मसूर के दाने के बराबर है, मगर उसकी रक्षा करने के लिए उसके पास और गोल-गोल काला पिण्ड लगा है और उसके बाद सफेद पिण्ड भी लगा है और इसके बाद भी इनमें पलक भी लग गए। आधी आये तो आँखों को मोच लें, नहीं तो धूल आँखों में भर जायेगी। देखो कितनी सुविधा सहूलियत मिल रही है? सो इन पलकों से क्या काम करें? ये पलक किसलिए हैं? अगर आंधी आये, धूल आये तो आँखें मींच लेनी चाहिएँ। और क्या-क्या कर लेंगे? और जानना चाहते हो। अच्छा, देखो आँख की पलकों का उत्तम सदुपयोग तो यह है कि इन्हें जब चाहे सदा बंद रखे रहें। जब जरूरत हो तब थोड़ा खोल लें, अपना काम कर ले, बाकी समय इन ढक्कनों से आँखों को बन्द किये रहें। देखो ये आँखें और यह जीभ इन दोनों ने परेशान कर रखा है सबको। जीभ ने तो इसकी इतनी परेशानी कर रखी कि कुछ पूछो ही नहीं। न शास्त्र सुनने दे, न सुनाने दे। एक तो यह ही परेशानी है। दूसरी परेशानी यह है कि कुछ से कुछ जीभ, अगर लटका दे, बोल दे तो अभी लड़ाई खड़ी हो जाये। और तीसरी परेशानी यह है कि खूब चटपटी चटीली चीजें स्वाद लेने के लिए इसे चाहियें। उस पर सांप की जीभ जैसी मटकती है, उसी के लिए तो रात-दिन मर रहे हैं, परेशान होते फिर रहे हैं। इस चार अंगुल की जीभ ने इस मनुष्य के जीवन को नीरस बना डाला। अच्छा, और आँखों से क्या परेशानी है? जितनी सारी उलझनें इस मनुष्य की बनती हैं उनका प्रारम्भ इन आँखों से होता है। पहले तो वे आँखें बहुत दिन तक तो देखती रहीं, फिर मन में आया कि इससे बोल लें, फिर उससे बोलना शुरू किया। फिर, मन ने और राग बढ़ाया। और मोह बढ़ा तो जितनी बड़ी से बड़ी उलझन हैं उन सारी उलझनों का मंगलाचरण ये आँखें करती हैं। तो देखो इतनी बड़ी

कठिनाइयां आती हैं इन दो आँखों से और मुख से । मगर देखो जितनी बड़ी बाधा इनसे मिल रही है उतनी बड़ी सुविधा भी हमारे पास है । आँखों के लिए भी दो ढक्कन हैं और मुख के लिए भी दो ढक्कन हैं । है ना ओठ । अरे क्यों उलझन में पड़ते? उन ढक्कनों से काम कर लो । दोनों ओंठ बन्द कर लो, झगड़ा समाप्त, न हला होगा न गुला, न क्षोभ आयेगा, न अशानि । इन आँखों के पलक बन्द कर लें तो सारी कल्पनायें खत्म हो जायेगी । ऐसा मार्ग निकल आने की संभावना है । तो देखो ये द्रव्येन्द्रियां निर्वृत्ति और उपकरण हैं ।

द्रव्येन्द्रियों की पौद्गलिक वर्गणाओं से निर्वृत्ता—ये द्रव्येन्द्रियां सब नामकर्म से निर्वृत्त हैं । समयसार में उदाहरण इस तरह दिया कि देखो जैसे लोहे से बनी तलवार लोहमय है इसी तरह नामकर्म पौद्गलिक से रची हुई जो इन्द्रियां हैं, शरीर है, वह पौद्गलिक है । तब जरा इस पर ध्यान दें—जैसे कहते हैं ना लोग कि कर्म पर दृष्टि दो तो निमित्त है, न दृष्टि दो तो निमित्त नहीं, पर यह भी याद है कि कर्म के चार भेद होते हैं—(१) जीवविपाकी, (२) पुद्गलविपाकी, (३) क्षेत्रविपाकी और (४) भवविपाकी । तो इनमें पौद्गलिक कर्म तो अज्ञात है, उस पर कोई दृष्टि नहीं देता, न उसका कोई सहारा ले पाता, किन्तु उसका तो ठीक निमित्तनैमित्तिक योग चल रहा है । आश्रय लेता है कोई तो इन आश्रयभूत बाह्यपदार्थों का लेता है । अब निमित्त इसका भी नाम है, उसका भी नाम है । तो उपचरित निमित्त को भी निमित्त बोलते हैं और वास्तविक निमित्त को भी निमित्त कहते हैं, पर निमित्तनैमित्तिक कहकर अभी तो सबकी दृष्टि में यह बात थी कि हां ठीक ही तो है कि बाह्यपदार्थों का आश्रय लें तो विकार होता है, न लें तो विकार नहीं होता है । तो निमित्त का आश्रय करने से विकारों की उत्पत्ति होती है । ठीक समझ में आ रहा है, मगर उससे हटकर वास्तविक निमित्त पर यदि ऐसा आक्रमण बने याने कहें कि कर्म कुछ निमित्त नहीं, उसका आश्रय लें तो निमित्त है । तो वहाँ कर्म की ओर से गलती यों नहीं कि निमित्त उपादान का इस तरह का सम्बन्ध नहीं है कि निमित्त को हम जानें तो वह निमित्त बने । अरे बाह्य में जो निमित्त है वह उपचरित निमित्त कहलाता है । इसे कहते हैं आश्रयभूत कारण । एक जगह ऐसा घटा लें तो सब जगह तो न घटेगा । एक वास्तविक निमित्त पर न घटा, अच्छा खैर इसे भी छोड़ो तो यह बतलाओ कि पुद्गलविपाकी कर्म प्रकृति में ऐसा घट सकता क्या कि उनका आश्रय लें, उन्हें जानें तो वे निमित्त बनें । वहाँ तो बिल्कुल ही घटित न होगा । कैसे? पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृतियों का उदय होता है तो उस समय शरीर की रचना होती है । जितने प्रकार के बताये गए ये ही तो निमित्त हैं और वह इस ढंग का निमित्त हैं, विलक्षण निमित्त है कि वह इस शरीर उपादान में भी कुछ काल व भाग में मिलकर कुछ अंश में उपादान-सा बनकर कुछ शरीर का आरंभ बनता, फिर चाहे वहाँ से खिसक जाये यह वर्गण । नामकर्म की प्रकृतियां कुछ इसी ढंग की हैं, तब ही मयतोस सार में बड़े स्पष्टरूप से यह बताया है कि जैसे लोहे से रची गई तलवार लोहामय है इसी तरह पौद्गलिक नामकर्म प्रकृतियों से रचा गया शरीर (इन्द्रियां) पौद्गलिक हैं । इनकी रचना के दृष्टान्त में उपादान का दृष्टान्त दिया गया है । लोहा उपादान है तलवार का । तो वहाँ ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि जीव के भाव की वहाँ उस समय आश्रय की बात नहीं लगती । यह तो भाव पहले कर चुका और जिस प्रकार परिणाम किया उस प्रकार का नामकर्म का बन्ध हुआ । अब उदय काल में वर्तमान भाव की देहरचना में दाल नहीं गल रही । वहाँ तो उस प्रकार की रचना बनी है, निमित्तनैमित्तिक योग है । भावों की

दुकान अब भी अपनी न्यारी चल रही । बाह्य वस्तुओं का आश्रय करने पर जो विकार होता वह व्यक्त विकार बनता है, ऐसी वहाँ फैक्टरी चल ही रही है विभाव की । सो घातियाकर्म का जो विपाक है वह अलग है और नामकर्म की जो चीज है उसकी पद्धति अलग है । निर्माण पद्धति में ही अन्तर है । यहाँ तीन कारण समझना हैं—निमित्त, उपादान और आश्रयभूत । रागद्वेषादिक कषाय विकार इनके होने में तीन कारण आते हैं—निमित्त उपादान और आश्रयभूत । किन्तु शरीर रचना में दो कारण हैं—निमित्त व उपादान तो सब जगह समझ लीजिए, जहाँ आश्रयभूत कारण है उसकी तो विशेष तैयारी है, मगर निमित्त और उपादान की जो पद्धतियाँ हैं वे सर्वत्र एक ढंग की हैं अर्थात् निमित्त उपादान में कुछ करता नहीं, पर निमित्त उपस्थित हुए बिना विकार होता नहीं । इसका आप जितना अर्थ समझते हों उतना विवरण में चले जायें ।

अचेतन द्रव्येन्द्रियों में प्रमाणत्व की असंभवता चेतक भावेन्द्रियों में प्रमाणत्व की संभवता—बात क्या कही जा रही है प्रकृत में? ये इन्द्रियाँ जिनको कि प्रमाण कहा जा रहा है ये चेतन हैं तो वे भावेन्द्रिय कहलायेगी । और नो द्रव्येन्द्रियाँ हैं वे भौतिक हैं, पौद्गलिक हैं वे केवल नामकर्म से निष्पन्न हैं । उसमें जीव के भाव का वहाँ सम्बन्ध नहीं है । यद्यपि जीव के आधार से जब तक हैं तब तक ये इन्द्रियाँ काम करती हैं और इन्द्रियों की रचना भी तब ही हुई है । इतना होने पर भी द्रव्येन्द्रिय की रचना में इस जीव के भाव का संयोग नहीं, वहाँ पुद्गलविपाकी कर्म का निमित्त पाकर आहारवर्गणायें शरीररूप परिणम गई । हां इतनी बात अवश्य है कि यह प्रमाता जीव वहाँ उपस्थित है तो इस तरह का काम चल रहा है । पर उपस्थित है, निमित्तपना नहीं है । द्रव्येन्द्रियों का निमित्तपना शरीर नामकर्म की प्रकृतियों से है । तो बात यह इसलिए कही जा रही कि द्रव्येन्द्रिय निपट भौतिक है । जितनी द्रव्येन्द्रियाँ हैं उतनी की बात समझलो । थोड़ा एक कथन सुना होगा । निर्वृत्ति दो प्रकार की कही गई है—(१) आभ्यन्तर निर्वृत्ति और (२) बाह्यनिर्वृत्ति । बाह्यनिर्वृत्ति तो कहलाती है, उन इन्द्रियों के आकार में आहारवर्गणाओं की, पौद्गलिक वर्गणाओं की रचना और आभ्यन्तर निर्वृत्ति वह कहलाती है कि उन इन्द्रियों में आत्मप्रदेश का रहना । तो देखो इस तरह अधिष्ठाता मात्र का बोध होता है । इस शरीर में ये आत्मप्रदेश निरन्तर बड़े वेगपूर्वक चक्र लगाते रहते हैं, और जब आत्मप्रदेश का निरन्तर द्रुत गति से चक्र चलता है तो आप बतलाओ कि जो आत्मप्रदेश इन्द्रिय पर है, आंख पर हैं वे प्रदेश तो वहाँ न रहे । बदल बदलकर प्रदेश चलते रहते हैं सारे शरीर में । इन सब इन्द्रियों में तो फिर ज्ञान कैसे होता? ज्ञान यो होता कि चक्षुरिन्द्रियावरण का क्षयोपशम आंख की जगह रहने वाले आत्मप्रदेश में ही हो ऐसा नहीं, किन्तु वह तो सर्वत्र क्षयोपशम है, लगाता रहता चक्र । तो इससे यह ध्वनित होता है कि भले ही आभ्यन्तर निर्वृत्ति है द्रव्येन्द्रिय के साथ, लेकिन उसकी उपादानमयी रचना में उसका हाथ नहीं, अर्थात् ये आत्मप्रदेश उपादान बनकर द्रव्येन्द्रिय नहीं बनते । इस तरह ये द्रव्येन्द्रियां निपट पौद्गलिक हैं । तो अचेतन इन्द्रियां तो ज्ञान करती नहीं, चेतन इन्द्रियां ज्ञान करती हैं । उसका अर्थ है कि भावेन्द्रियां ज्ञान करती हैं । तो भावेन्द्रियों तो प्रमाण है और द्रव्येन्द्रियां प्रमाण नहीं । अब भावेन्द्रिय कैसे प्रमाण है और उससे सिद्धान्त का विरोध नहीं आता, यह बात आगे कहेंगे ।

शङ्काकार द्वारा प्रस्तुत इन्द्रियों की प्रमाणता की शङ्का के समाधान का उपसंहार—पदार्थ के जानने के उपाय यहाँ मुख्यता से दो बताये गए थे—प्रमाण और नय । प्रमाण और नयों से तत्त्वों का और सम्यग्दर्शन आदिक

का अधिगम होता है। प्रमाण क्या चीज है? उसके विवरण में ९ वां सूत्र आया था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान ये ५ ज्ञान हैं और उसके समर्थन में यह १० वां सूत्र आया कि वह सब दो प्रमाणरूप हैं—ज्ञान और प्रमाण ये दो बातें यद्यपि एक हैं लेकिन इनमें विशेषणविशेष्य भाव का भेद है। प्रमाण तो है विशेष्य और ज्ञान है विशेषण। क्या है प्रमाण? ज्ञान है प्रमाण। उस ज्ञान की प्रमाणता की बात बहुत विस्तार से चली थी। उस प्रकरण को सुनकर शङ्काकार ने यह कहा था कि हमको तो ऐसा लगता है कि इन्द्रिय ही प्रमाण हैं, ज्ञान कुछ नहीं है। जानकारी जो होती है वह इन इन्द्रियों की दया से होती है और इन्द्रियों से हम काम लेते रहते हैं तो इन्द्रियां ही प्रमाण हैं, ज्ञान प्रमाण नहीं है। इस शङ्का के समाधान में यहाँ दो बातें आयीं कि मान लो इन्द्रियां प्रमाण हैं तो जो इन्द्रियाँ प्रमाण हैं वे इन्द्रियाँ अचेतन हैं या चेतन? अचेतन इन्द्रियाँ तो प्रमाण बन नहीं सकतीं और चेतन इन्द्रिय कहना सो ठीक है, सिद्धसाधन है। चेतन इन्द्रिय के मायने भावेन्द्रिय याने लब्धि और उपयोगरूप भावेन्द्रिय। ये भावेन्द्रियाँ किसकी पर्याय हैं? ये चेतन की विकृत पर्याय हैं, जीव की परिणति हैं, पुद्गल की परिणति नहीं। शब्द यद्यपि 'इन्द्रिय' लगा है इसमें, किन्तु साथ में भाव भी तो लगा है। भावेन्द्रिय, लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। अब यहाँ देखो लब्धि का अर्थ है आवरण का क्षयोपशम। तो आवरण का क्षयोपशम जीव में है कि कर्म में? वह तो कर्म में है। फिर यहाँ कैसे कह दिया कि भावेन्द्रिय इस जीव की एक परिणति है। तो लब्धि मायने यह है कि आवरण का क्षयोपशम होने पर जो योग्यता बनती है वह है लब्धि। तो वह योग्यता जीव की है और उपयोग लगा, जिस ओर अभिमुख हुआ उसी का नाम उपयोग है। तो उपयोग तो उपयोग है ही। तो बात असल में ज्ञान तक ही तो आयी। भावेन्द्रिय मायने ज्ञान। जैसे कुछ दार्शनिक मानते ना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय और भौतिकेन्द्रिय। तो जो ज्ञानइन्द्रिय है सो ही भावेन्द्रिय है। यह प्रमाण है याने जहाँ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हो रहा है वहाँ के प्रसंग की बात है। सर्वत्र यह ही प्रमाण है सो नहीं, मगर भावेन्द्रिय प्रमाण ही है। भावेन्द्रिय ही प्रमाण है ऐसा नहीं, किन्तु अवधिज्ञान भी प्रमाण है। मनःपर्ययज्ञान भी है, केवलज्ञान भी है वह भी प्रमाण है और जो भावेन्द्रिय है वह अप्रमाण नहीं, वह प्रमाणभूत है। तो ज्ञान ही प्रमाण है यह बात आयी ना? जैसे अचेतन पक्ष में शङ्काकार ने यह कह। था कि आत्मा व्यापार सहित हो तब उसकी इन्द्रियां प्रमाण हैं, तो वह व्यापार क्या है? यह ही उपयोग। उपयोग लगाये, उस ओर अभिमुख हों, ध्यान दें तो वह ध्यान देना, उपयोग देना—ये सब ज्ञान ही कहलाते हैं। तो ज्ञान ही प्रमाण है, यह बात आयी।

शङ्काकार द्वारा इन्द्रियार्थ सत्रिकर्ष की प्रमाणता मान लेने का प्रस्ताव—इन्द्रियों की प्रमाणता सिद्ध करने में जब थक गया शङ्काकार कि हमने इन्द्रिय को प्रमाण सिद्ध करने की बहुत कोशिश की, मगर हम सफल न हो सके। अब क्या करें? कसम तो यह खा रखी है कि हम न बोलेंगे मुख से कि ज्ञान ही प्रमाण है। अब दाल कैसे गले? तो एक बात और उनकी सुनो, बह कहता है—सुनो सुनो, अभी मामला खतम न करो, इन्द्रियां प्रमाण हैं, इसका अर्थ यह लगावे कि इन्द्रियों का सत्रिकर्ष प्रमाण है। इन्द्रियां प्रमाण हैं, ऐसा कहने में तो विपत्ति देना एक सरल बात हो गई। मगर इन्द्रिय और पदार्थ इनका जो भिड़ाव है वह प्रमाण है। जैसे स्पर्शनइन्द्रिय है, हाथ है ना? हाथ तो स्पर्शनइन्द्रिय प्रमाण नहीं, किन्तु स्पर्शनइन्द्रिय और ठंडा जल, ठंडी बरफ

इनका हो गया सम्बन्ध, तो यह है प्रमाण। इसे बोलते हैं इन्द्रियार्थसन्निकर्ष। अब इसमें क्या आपत्ति देंगे? जब चीज में हाथ लगाया तब ही तो ज्ञान बनता। जब जीभ पर चीज रखा तब ही तो रस का ज्ञान बनता। जब नाक में गंध के परमाणु जाये तब ही तो गंध का ज्ञान बनता और जब कान में शब्द जाये तो शब्द सुनना बनता और आँखों से कैसा सन्निकर्ष? सो सुनो—शङ्काकार कह रहा है कि आँखें यों अलग रहकर नहीं देखती हैं, आँखों से किरणें निकलती हैं और वे किरणें पदार्थ पर लगती हैं, ऐसा जब भिड़ाव होता है आँख का और पदार्थ का तब ज्ञान होता है तो वहाँ भी यह सन्निकर्ष है।

वास्तविकता का किञ्चित् दिग्दर्शन कराते हुये शङ्काकार की शङ्का का विवरण—देखो बात सब आगे आयेगी, प्रकरण होगा तो। इन्द्रिय और मन ये दो अप्राप्यकारी माने गए हैं। बाकी इन्द्रियां तो भिड़कर जानती हैं। स्पर्शन तो जब स्पर्शनइन्द्रिय छुवे किसी चीज को तब स्पर्श का ज्ञान होता। ऐसे ही रसना पर जब कोई चीज आयी तो रस का ज्ञान होता, ऐसे ही नाक में भी स्पर्श होता, मगर आँख बिना छुवे ही दूर से पदार्थ को जानती है। किरण की बात गलत है कि आँख में से किरणें निकलती हैं और पदार्थ को छूती हैं तब जानती हैं। वह विषय एक अलग है। अगर किरणें निकलकर जाने तो आप यह बतलावो कि सामने अगर बहुत मोटा काँच रख दिया जाये तो किरणें तो काँच को छू जायेगी, अड़ जायेंगी, फिर कांच के पीछे की चीजें क्यों जानने में आ जाती हैं? आरब की किरणें तो उस काँच से अड़ गईं। अब आगे जा ही नहीं सकती। कांच के पीछे की चीज क्यों ज्ञान में आ जाती है? आँखों से किरणें निकले, पदार्थ को छुवें तब रूप जानने में आये, ऐसा नहीं है। खैर वर्तमान में यह ही शंका चल रही है कि इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष हो, सम्बन्ध हो वह प्रमाण है, ज्ञानप्रमाण नहीं है। देखो सत्य बात तो यह ही है कि ज्ञान ही प्रमाण है। कहीं आप जावो, कुछ भी प्रमाण में वस्तु पेश करो, जब ज्ञान बनता है तब ठीकपन का निश्चय होता है कि हां बात सही है। जैसे आप रोकड़खाता पेश करें, रजिस्ट्री वगैरा कागजात पेश करें तो वहाँ भी प्रमाण तब बनता है जब उनको देखकर यह ज्ञान बन जाता है कि हां बात सही है। घटना ऐसी हुई। ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, न कि रोकड़, रजिस्ट्री वगैरा को प्रमाण कहते। ये तो ज्ञान के एक बाह्य साधन बन गए। उनको बांचकर, पढ़कर जाना गया। जो जाना गया, जो ज्ञान है सो प्रमाण है, किन्तु यहाँ शङ्काकार क्या कहता है कि इन्द्रिय और पदार्थ का जो भिड़ाव है, लगाव है सो प्रमाण है। तो ये सन्निकर्ष को प्रमाण कहते।

सन्निकर्ष का अर्थ आत्मा की अर्थग्रहणयोग्यता मानने पर विसंवाद की समाप्ति—अब सन्निकर्ष की समस्या के उत्तर में यह बात समझें कि सन्निकर्ष का अर्थ अगर ढंग से हो जाये तो उसकी बात सही बन जायेगी। परन्तु वास्तविकता हो कुछ और, कहे कुछ तो विवाद होता है। देखो बहुत से विवाद दो कारणों से हो रहे हैं। जो आपस में फूट, मतभेद सिद्धांत के नाम पर धर्म के नाम पर जो मतभेद चलते हैं उनकी आधारशिला दों हैं। एक यह है कि शब्द तो है सामान्य, उसके ८-१० अर्थ किए जा सकते हैं। अब कहने वाला शब्द का कुछ अर्थ समझ कर उसकी व्याख्या बना रहा, उसकी विशेषता बता रहा और सुनने वाला शब्द का दूसरा अर्थ

रखकर उसे मन रहा तो विरोध तो हो ही जायेगा । जिस अर्थ के आशय से वक्ता कह रहा उसी अर्थ का आशय रखकर सुने तो विरोध नहीं । दूसरी विरोध की बात यह है कि कहा तो जाता नय से ना, अब जो नय से कह रहा है कोई वक्ता और श्रोता सुन रहा है किसी दूसरे नय से तो वहाँ विरोध हो ही जायेगा । अब रही यह बात कि सत्य है कि नहीं? तो उसका उत्तर यह है कि जिस नय से कहे जा रहा वक्ता यदि उसके प्रतिपक्षी नय की बात भी समझ रहा है तो उसके उस नय की बात सत्य है । अगर प्रतिपक्ष नय की बात में विरोध करता है तो उसकी कही हुई बात असत्य है । देखो सत्य होकर भी असत्य है । एक नय में जो बात समझी जाती, कही जाती वह तो उस नय में सत्य है । मगर उस नय के प्रतिपक्षनय की बात का विरोध करे मायने प्रतिपक्षनय को असत्य कहे तो सत्य कहकर भी असत्य बन जाता है । तो ऐसी कुछ आधार शिलायें हैं जिन पर कि परस्पर विरोध हो जाता है और वे बातें समाप्त हो जाये तो विरोध का कहीं अवकाश है क्या? यह जैनशासन विरोध के लिए उत्पन्न हुआ है क्या? अरे यह शासन तो सबको आनन्द देने के लिए है । जिस स्याद्वाद में यह सामर्थ्य है कि जैनशासन के अन्तर्गत अनेक प्रकार की समझदारी की बातें कहीं गईं, भिन्न-भिन्न दार्शनिकों की बातों का भी समन्वय कर सकते हैं और उनको एक जगह बिठला सकते हैं।

स्याद्वाद में विद्वेष के अवसर का अभाव—स्याद्वाद में क्या कहीं विरोध और फूटाफाटी का अवकाश भी है क्या? नहीं है । तो ये सब बातें अपनी गलती से होती हैं और काल पंचमकाल है तो यह तो कभी अन्त में जो प्रवृत्तिरूप धर्म है इसका तो निशान भी नहीं रहने का । उसी के चिन्ह चलते जा रहे । जैसे देखो कहते हैं ना कि छठे काल के अंत में प्रलय होगी । देखो लिखा तो है कि ७ दिन अग्नि की वर्षा होगी, ७ दिन धाराप्रवाह जल की वर्षा होगी । आदि ७-७ दिन ७ प्रकार की वर्षा होगी तो उसके प्रमाण तो अब ही मिल रहे । ये जो ऐटमबम, हाइड्रोजन बम वगैरा या और-और जो अनेक प्रकार की विनाशकारी शक्तियां जो आज तैयार की जा रही हैं तो वे क्यों तैयार की जा रही हैं? अरे ये कभी न कभी तो फूटेंगे ही । जो आज अपने घरों धरे हैं वहीं गड़बड़ हो जायेगी । यह ही तो एक अग्नि जैसी वर्षा होगी । तो प्रलयकाल के रूपक आज भी देखने को मिल रहे हैं । उस छठे काल के वे दिन अवश्य आयेंगे जब कि यह सब कुछ हो जायेगा । पर अपने लिए इतना ध्यान रखें कि हम बाहर क्या तकें, किसे तकें? खुद दुःखी हैं, कर्म प्रेरित हैं, पर्याय में अटके हैं, जन्म मरण करते हैं । तो जैसे किसी जगह कई लोगों की दाढ़ी में आग लग जाये तो वहाँ क्या कोई पहले किसी दूसरे की, दाढ़ी बुझाने जायेगा? अरे वह तो पहले खुद की दाढ़ी की आग बुझायेगा तो ऐसे ही जब खुद में इतनी विडम्बनायें बस रही हैं, दुखी हो रहे हैं तो खुद का काम तो करना नहीं चाहते और व्यर्थ की बातों में, व्यर्थ की गप्पों में पड़कर अपना जीवन व्यर्थ गंवाते । जिस बातचीत में कषाय का अंश जगने की सम्भावना हो या कषाय के आधार पर ही कुछ रखा गया हो तो उसे गप्प बोलिये । जितना ज्ञानस्वभाव की आर अभिमुख रहने का यत्र है सो तो है कृत्य और जो कषायांश जगने की बात है वह सब है गप्प । अब गप्प की तो आदत पड़ी हुई है । अच्छा तो वह आदत तो मिटती नहीं । अब बुरी गप्प तो नहीं कर सकते, कुछ सञ्जनता आयी है तो भली गप्प कर लो । गप्प बिना समय नहीं गुजरता कषाय में तो गप्पों की कषाय के कारण आदत पड़ी हुई है । उन गप्पों को छोड़े और अपने आपका जो विशुद्ध कार्य है जिससे कल्याण हो उस बात में आयें । कहाँ है

कल्याण इस सहज ज्ञानस्वरूप में मरन होने में। और दूसरी बात है ही नहीं। अब वह मिले कैसे? तो उसका उपाय बताता है अभूतार्थनय। अभूतार्थनय से जाने ७ तत्त्व, ९ पदार्थ, परिचय बनावें, सब विधि बतायेंगे। सब कुछ गैल बतायेंगे उस तरह चलें। तो यहाँ अभूतार्थ नय द्वारा ही तो यह अधिगम की बात चल रही है। प्रमाण और नयों से पदार्थ का ज्ञान करें। सम्यक्ज्ञान को प्रमाण कहा।

अर्थग्रहणयोग्यत्व सत्त्विकर्ष की प्रमाणता में विसंवाद का अभाव—ज्ञान के बारे में यह शङ्खा चल रही है कि ज्ञान प्रमाण नहीं है, किन्तु सत्त्विकर्ष प्रमाण है। तो आचार्यदेव कहते हैं कि अगर सत्त्विकर्ष का अर्थ यह लगावें कि आत्मा में पदार्थ को जानने की योग्यता होना सो सत्त्विकर्ष है। तब तो सत्त्विकर्ष का नाम लेकर हम प्रमाण कह देंगे कि हां सत्त्विकर्ष प्रमाण है। अब देखो ऐसी-ऐसी-बातें, ऐसे-ऐसे शब्द जो जैनशासन में प्रयुक्त नहीं होते और उनका अर्थ ढंग से लगा लें तो समन्वय बन जायेगा। लो यहाँ सत्त्विकर्ष प्रमाण हो गया। पदार्थों के ग्रहण की योग्यता का नाम अगर सत्त्विकर्ष है तो वह है चेतनात्मक? और उस सत्त्विकर्ष को प्रमाण मानने के लिए कौन मना करता है? हां है सत्त्विकर्ष प्रमाण। भीतर जो ज्ञान चल रहा है, ज्ञान जगने की जो योग्यता है वह ज्ञान हुआ, वह ही प्रमाण है। और देखो जो भाववाचक शब्द होते ना, उनके तीन-तीन तरह से अर्थ होते हैं। जैसे ‘ज्ञान’ यह भाववाचक शब्द है; तो तीन तरह से अर्थ है। जो जाने सो ज्ञान। जिसके द्वारा जाना जाये सो ज्ञान। जो जानना सो ज्ञान। एक कर्तृत्व मुख्यता में रहा, एक करणत्व का मुख्यता में रहा और एक भाव प्रधान रहा। तो प्रमाण के भी तीन अर्थ कर लीजिए—प्ररिणति इति प्रमाणं, प्रमीयते अनेन इति प्रमाणं, प्रकर्षेण मानं इति प्रमाणं। तो अब कर्तृत्व के रूप से देखें अर्थ को, जानने की योग्यता से परिणत आत्मा ही तो पदार्थ को जानता है तो वह प्रमाण कहलाया। यह प्रभु यह ज्ञान, यह ही प्रमाण है। कौन है हमारा देव? ज्ञानदेवता। भगवान में भी क्या हम तकते हैं? ज्ञानदेवता, अपने को भी क्या तकें? ज्ञानदेवता। अपना जो ज्ञानस्वभाव है उसको निरखें।

ज्ञानघनरूप में आत्मस्वरूप की समझ होने पर सर्वविवादों की समाप्ति—देखो जब यह समझ में आ जावे कि मैं तो ज्ञानघन हूँ, ज्ञान ही मेरा धन है, अन्य कुछ मेरा धन नहीं है, तो देखो कितनी विपक्षियां नष्ट हो जाती हैं? काहे का झगड़ा? काहे का विवाद? कलह विवाद सब अज्ञान में ही जकड़ा हुआ है। देखो स्त्री के वाचक तीन शब्द हैं—भार्या दारा और कलत्र। अब इनके अर्थ क्या हैं सो देखो भार्या मायने जो गृहभार को बड़ी होशियारी से संभाले, घर का पूरा बोझ संभाले, और कलत्र मायने जो शरीर की रक्षा करे सो कलत्र। स्त्री न हों तो यह पति भी भूखों मरे और पुत्र भी। सबके शरीर की यह रक्षा करती है। तो कल मायने शरीर उसकी जो रक्षा करे सो कलत्र और दारा का क्या अर्थ है दारयति भातृन् भेदयति या सा दारा। जो भाई-भाई में लड़ाई करा दे, कलह करा दे उसे कहते हैं दारा। देखो लोग इसे गाली में ले लें, कहते हैं ना गाली में “दारी” मगर उसका अर्थ क्या है? दारा का अर्थ है कि जो भाई-भाई को लड़ा भिड़ाकर अलग करा दे। उनमें आपस में पटती नहीं ना? भाई-भाई न्यारे न होना चाहें तो भी न्यारा करवा देती हैं। तो हम यह बतला रहे हैं कि अगर यों स्वरूप ज्ञान जायें सब कि मैं तो ज्ञानघन हूँ, मेरा तो ज्ञान ही सर्वस्व है और कुछ नहीं है तो क्यों लड़ाई हो? ऐसी जानकारी करिये तो सब लड़ाई खतम। जब अपने ज्ञान की सुध नहीं रहती और बाहरी

पदार्थों को ही हम अपना धन समझते हैं तो वहाँ लड़ाई चलती है।

ज्ञान का महत्व समझ लेने में वास्तविक सम्पन्नता का अभ्युदय—ज्ञान ही अपना एक स्वरूप है। उस ही की बात चल रही है। यह ज्ञानप्रमाण है, अन्य कुछ प्रमाण नहीं। देखो यही एक बात काम में आयेगी। सबसे बड़ी कीमत की चीज है ज्ञान। धन की कीमत नहीं। यह बात दिल में खूब बैठा लो। अच्छा है, नहीं तो पंथ न मिलेगा। मरण भी बहुत होंगे, जन्म भी बहुत होंगे, संसार में रुलना पड़ेगा। कीमती चीज, अमूल्य चीज तो ज्ञान है। धन का मूल्य नहीं, धन कीमती नहीं। वह तो बाहरी वस्तु है। आया है तो जायेगा, कहीं जाये। उससे मेरे को क्या मिलता? विकल्प और उठते हैं और जितना गृहस्थी में जरूरत है उतना तो स्वयमेव मिलता ही है। जहाँ इतना पुण्योदय है कि जैन शासन पाया है, उत्तम कुल पाया? वहाँ टोटा कुछ भी नहीं पड़ने का। अगर तृष्णा चित्त में है तो उसको निरन्तर हैरानी रहती है। इसलिए कीमत समझो ज्ञान की। मेरे को ज्ञान जगे, उसके लिए तन भी जाये, मन भी जाये, धन भी जाये, प्राण भी जाये, वचन भी जाये, सब कुछ न्यौछावर हो और अपने को ज्ञान मिले तो समझो कि हमें सब कुछ मिल गया। अपना ज्ञान कलंकित हो, रागद्वेष कषायादिक से मलिन हो और चाहे राजपाट भी। मिले तो भी विडम्बना है, विपत्ति है। सुख धन से नहीं होता। सुख तो अपने ज्ञान से होता है, विवेक से, बुद्धि से सुख होता है।

प्रमाता और प्रमाण में कथंचित् भेद अभेद समझने की पद्धति में प्रमाणत्व की शङ्काओं का निरसम—ज्ञान के प्रमाण के सम्बन्ध में चर्चा चल रही है। जो जाने सो ज्ञान, जो प्रमाणे। सो प्रमाण। प्रमाण यह आत्मा ही है। तो जो लोग कहते हैं कि सत्त्विकर्ष प्रमाण है उनको भी स्याद्वादी मना नहीं करते। मगर सत्त्विकर्ष का अर्थ यह जानें कि पदार्थ को जानने की योग्यता से प्रवृत्त जीव जानता है। इसको कहते हैं सत्त्विकर्ष। इस प्रसंग को सुनकर शङ्काकार घबड़ा गया। ये तो हमारी सारी बातें उलट दे रहे, सो शङ्काकार कहता है कि देखो तुम्हारे मंतव्य से यह जाहिर हो रहा कि तुम एक ही को दो बार कह रहे हो—प्रमाता और प्रमाण। मायने जो जानता सो प्रमाण। जानता कौन? आत्मा। वह ही प्रमाण। तो प्रमाण क्या रहा? वह तो प्रमाता रह गया। वह तो आत्मात्मक हो गया प्रमाण। प्रमाण तो कुछ न रहा,। तो समाधान में कहते हैं कि देखो प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति इन चार में सर्वथा भेद नहीं है। कथंचित् भेद है, कथंचित् अभेद है। जानने वाला और जिसके द्वारा जाना गया, जिसको जाना और जो जानन हुआ, ये चारों बातें अलग नहीं हैं। एक ही की बातें हैं। इसलिए यह कोई दोष नहीं है कि प्रमाण नहीं रहा और मात्र प्रमाता ही रहा। प्रमाता और प्रमाण का कथंचित् तादात्प्य सम्बन्ध है। जिन दार्शनिकों ने ज्ञाता और ज्ञान को बिल्कुल जुदा-जुदा माना है, देखो जिसकी बात कर रहे—जानना कौन? आत्मा, और जिसके द्वारा जाना गया उसका नाम ज्ञान। तो ज्ञान और ज्ञाता इन दो की बात कह रहे। जो जानता है सो ज्ञाता और जिसके द्वारा जानना है तो ज्ञान। ये दो बातें अलग-अलग हैं क्या? हैं तो एक रूप और उसकी मुद्रा से बनाये गए हैं भेद, पर कोई दार्शनिक कहता है कि ये तो बिल्कुल ऐसे जुदे हैं जैसे कि ये दो खम्भा खड़े हैं। इनका परस्पर क्या मतलब? बिल्कुल जुदे-जुदे हैं, ऐसे ही ज्ञान अलग है और ज्ञाता अलग है। बिल्कुल न्यारी-न्यारी दो बातें हैं, ऐसी शंकाकार अपनी बात रख रहा है। तो देखो इसमें कितना बड़ा दोष है? सत्यता के विरुद्ध कोई कहे तो वह निभ नहीं पाता। अब मौन रहे ये लोग कि ज्ञान तो

बिल्कुल अलग चीज है और ज्ञाता बिल्कुल अलग है। तो देखो जैसे जिस ज्ञान के द्वारा मुझ ज्ञाता को जानूं वह ज्ञान शंकाकार की दृष्टि में हमसे अलग है ना और ऐसे ही दुनिया में जो अनेक मनुष्य हैं, जीव है उनसे भी अलग हैं। तो यह ज्ञान तो सबके लिए एक समान रहा ना? हमसे भी अलग है और अन्य सब जीवों से भी अलग है वह ज्ञान। तो जब यह ज्ञान सबके लिए एक समान निराला है तो इस ज्ञान के द्वारा हमको ही ज्ञान होता है, दुनिया भर को नहीं होता, इसका क्या कारण है? क्योंकि उस पदार्थ विषयक ज्ञान मेरे से बिल्कुल अलग पड़ा है और उस ज्ञान के द्वारा हम जानते हैं तो ऐसे अलग पड़े हुए ज्ञान के द्वारा जैसे हम जान जाते तो ऐसे ही अलग पड़े हुए इस ज्ञान के द्वारा सारी दुनिया जान जाये। क्यों नहीं जानता? जान जाना चाहिए। तो ज्ञान को ज्ञाता आत्मा से बिल्कुल अलग मानने में कोई व्यवस्था नहीं बनती। इससे ही समझना चाहिए कि ज्ञाता ज्ञान निराले-निराले तत्त्व नहीं हैं। जो ज्ञान है सो ही मैं हूं। जो मैं हूं सो ही ज्ञान है।

ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व के अनुभव का प्रभाव—देखो स्वानुभव के लिए तो ज्ञानमात्र का अनुभव करना बहुत ही सहायक है। कोई कहे कि हमें अपना ज्ञान नहीं है, मेरे को आत्मा का ज्ञान नहीं है तो जरा आत्मा का ज्ञान तो करा दो। देखो आत्मा का ज्ञान अभी बतावेंगे, थोड़ा एक बीच में दृष्टान्त ले लो। एक राजा और मंत्री थे, तो मंत्री आत्मा की बात बहुत करता था और राजा को सुहाये नहीं, उसकी समझ में ही न आये। तो एक दिन राजा घोड़े पर चढ़कर कहीं जा रहा था और रास्ते में मंत्री का घर, मिला तो वहां राजा मंत्री से कहने लगा कि मंत्री जी मुझे आत्मा की बात समझा दो। तो मंत्री बोला—महाराज ! आप घोड़े से नीचे उतरिये, एक आध घंटा आराम से हमारे पास बैठिये तो हम तुम्हें आत्मा की बात सुनावें। तो राजा बोला—अरे हमें इतनी फुरसत कहां, हमें तो कोई ५-७ मिनट में ही सुना दीजिए। तो मंत्री बोला—महाराज यदि हमारा अपराध माफ हो तो हम ५-७ मिनट की बात क्या, कोई पाव सेकेण्ड में ही समझा दें? हाँ हाँ माफ है, समझा दो। तो मंत्री ने राजा के हाथ से कोड़ा छीन लिया और दो चार कोड़े राजा के जमा दिया। राजा बोला—अरे रे रे भगवान। तो मंत्री बोला—देखो भगवान तो तुम मान ही गए, कह ही रहे भगवान और जिससे अरे रे है वह है आत्मा। तो देखो भाई इस तरह से अगर आत्मा की बात समझना चाहो तो यों समझलो और सीधे-सीधे समझना चाहो तो वैसे समझ लो। हाँ जब आप अपने मैं ऐसा ध्यान लगाये कि मैं ज्ञान ही ज्ञान हूं, ज्ञान-ज्ञान, ज्ञान का स्वरूप क्या? जानना। जानने में क्या हुआ करता? ऐसा प्रतिभास। बहुत गहरे घुसते जायें, ज्ञान की बात सोचते जायें और अपने को ज्ञानमात्र अनुभवते जायें। जब ज्ञान का विशुद्ध स्वरूप आपके ज्ञान में होगा तो अनुभव जग जायेगा। तो अपने को ज्ञानमात्र इस तरह की प्रतीति में लगायें तो यह होगा अपने सम्बन्धज्ञान का बहुत सरल उपाय से एक प्रयोग।

अचेतन होने के कारण इन्द्रिय और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में प्रमाणत्व की असंभवता—ज्ञान ही प्रमाण है, यह विषय चल रहा है, अज्ञान प्रमाण नहीं है। इन्द्रियां हैं अज्ञान, वह प्रमाण नहीं हो सकता और इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी है अचेतन, सो यह भी प्रमाण नहीं हो सकता। इस प्रसंग में सन्निकर्षवादी ने अपना यह मंतव्य रखा था किए इन्द्रिय का और पदार्थ का सम्बन्ध हुआ तब ही ज्ञान होता है। होते हैं ना कूपमंडूप, जो कुवे में

मेंढक होते हैं उनको क्या ज्ञान रहता है कि सारी दुनिया इतनी ही है जितना कि कुवां, उसके बाहर भी क्या है कुछ, सो परिचय नहीं रहता। एक बार हंस कहीं से उड़कर आया, कुवां की बाट पर बैठ गया, तो नीचे से वह मेंढक पूछता है कि तुम कौन हो? तो वह बोला—हंस।.... कहां रहते? मानसरोवर में।.... वह मान सरोवर कितना बड़ा है?.... बहुत बड़ा। तो मेंढक ने एक पैर फैलाकर कहा—अजी इतना बड़ा?.... अरे इससे भी बड़ा। दूसरा पैर फैलाकर कहा—अजी इतना बड़ा?.... अरे इससे भी बड़ा। तीसरा पैर फैलाकर कहा तो क्या इतना बड़ा?.... अरे इससे भी बड़ा, चौथा पैर फैलाकर कहा—तो क्या इतना बड़ा?.... अरे इससे भी बड़ा। अब एक किनारे से दूसरे किनारे तक उछलकर कहता है—तो क्या इतना बड़ा?.... अरे इससे भी बहुत बड़ा। तो वह मेंढक झुँझलाकर बोला—अरे तुम बिल्कुल झूठ कहते हो। इससे बड़ी तो दुनिया है ही नहीं। तो जो लोगों को ज्ञान चल रहा है—मतिज्ञान श्रुतज्ञान वही एक दृष्टि में है शंकाकार के और जब कुछ गहरी चर्चा आयेगी तो यह बतलावेंगे। जो बड़े-बड़े ऋषि संतजन हैं, योगीजन हैं उनको कैसे ज्ञान हो गया? प्रत्यक्ष ज्ञान है ना, तो कहेंगे कि योगज धर्म से अनुग्रहीत हैं उनकी इन्द्रियाँ, सो इन्द्रिय का सत्रिकर्ष होता है। अब यह कवायत ही तो दिमाग को चल रही है। इन्द्रिय और पदार्थ का सत्रिकर्ष प्रमाण है, ऐसा कहने वाले लोग यदि सत्रिकर्ष का अर्थ इतना मानें कि पदार्थ का ग्रहण करने की योग्यता से प्रवृत्त होकर आत्मा उन पदार्थों के जानने के प्रति अभिमुख होता है तब तो ठीक है। सत्रिकर्ष प्रमाण है। जहाँ चैतन्य का कुछ नाम ही न ले और मात्र इन्द्रिय और पदार्थ का सत्रिकर्ष कहा तो प्रमाण नहीं।

प्रमाण और प्रमाता में कथंचित् तादात्म्य होने से स्वयं के ज्ञानद्वारा स्वयं को ही जानकारी होने की सिद्धि—प्रमाण और प्रमाता में कथंचित् तादात्म्य है, भेद नहीं है, और प्रमाता चेतन है सो प्रमाण भी चेतनात्मक ही होता। यदि प्रमाता व प्रमाण में भेद मानोगे कि जानने वाला आत्मा दूसरा पदार्थ है और जिस ज्ञान के द्वारा जाना जाता है वह दूसरा पदार्थ है। तो लो हमने जिस ज्ञान के द्वारा जाना वह तो हम से न्यारा हुआ ना? तो जैसे हम से न्यारा है वह ज्ञान, ऐसे ही दुनिया भर के सब जीवों से भी वह न्यारा है। उस ज्ञान से हम ही जान पाये और दुनिया भर न जाने—यह भेद क्यों? फिर तो सबको उस एक ज्ञान से जानना चाहिए। इससे समझो कि प्रमाण ज्ञान इस आत्मा से जुदी चीज नहीं है। आत्मा से ही ज्ञान का तादात्म्य सम्बन्ध है, अन्यथा यह बात नहीं बन सकती कि इस ज्ञान के द्वारा हमको ही ज्ञान हो और दूसरे को न हो। इस पर शङ्खाकार कहता है कि बात ऐसी है कि वह प्रमाण वह ज्ञान है तो आत्मा से जुदी चीज, मगर उस प्रमाण का सम्बन्ध जिस आत्मा में हो वह आत्मा जान पाता है उस ज्ञान से, दूसरे आत्मा नहीं जान पाते। देखो ध्यान देकर सुनो, आगे की बात भी समझ में आयेगी। बात कहीं जा रही है खुद की, निज की। जिस ज्ञान के द्वारा हम जानते हैं उस ज्ञान को नैयायिक भिन्न कहते हैं। तो ज्ञान जुदा पदार्थ है और जानने वाला मैं आत्मा जुदा पदार्थ हूं। देखो किसी भी मनुष्य को मूढ़ नहीं कहा जा सकता। सबकी अपनी-अपनी दृष्टियाँ हैं, उनसे बोलते हैं। देखो ज्ञान और आत्मा अगर जुदे न हों तो वे दो नाम क्यों लेते? एक ही नाम क्यों नहीं लेते? और फिर उनमें कारक भेद क्यों लगाते कि आत्मा ने ज्ञान के द्वारा जाना। तो कहाँ कारक भेद है? अच्छा लक्षणभेद भी है। ज्ञान का स्वरूप जानना है और आत्मा का स्वरूप जानना देखना, मग्न होना, आनन्द पाना है। तो कोई बात है थोड़ी

बहुत, तब हो तो भेद की बात कही किसी ने। अब इसे अन्य दार्शनिकों ने सर्वथा कह दिया तो इसमें दोष हो गया, कथंचित् भेद कहते तो कोई दोष नहीं है।

अभेदनय व भेदनय का एकवस्तु में अविरोध—स्याद्वाद की झाँकी है गणेश की मूर्ति। गणेश चौथ के दिन गणेश की मूर्ति बनते देखा होगा? क्या रूपक बनता कि आदमी है और ऊपर सूंड बैठी है, और नीचे चूहा है, उसका वाहन बताया गया चूहा। भला कोई ऐसा आदमी था क्या कि जो सूंड लगी पैदा हुआ हो या पीछे लगायी गई हो, और चूहा पर बैठकर जाता हो? जंचता तो नहीं ऐसा, मगर भाव देखो अलंकार है उस स्याद्वाद की झाँकी है। कैसे? स्याद्वाद में देखिये दो नय होते हैं—(१) अभेदनय और (२) भेदनय। अभेदनय का काम है एकमेक करना, अखण्ड बनना और भेदनय का काम है उसके भेद करना, भिन्न-भिन्न बात विश्लेषण करना अर्थात् देखो यह सूंड और यह धड़ इसका जो एकमेक बन गया है, यह दुनिया को अभेदनय का प्रतीक बताता है। अभेदनय ऐसा अभेद करता है कि जैसे धड़ और सूंड में एकपना हो गया, अलंकार ही तो है, और वाहन जो चूहा है वह है भेदनय का प्रतीक। जैसे चूहा किसी कागज या कपड़े की दूकान में घुस जाये और वहाँ अपनी फैक्टरी चालू कर दे तो देखो वह कितने छोटे-छोटे टुकड़े कर डालता है, और ऐसे छोटे टुकड़े कर देगा कि जितने छोटे टुकड़े आप नहीं कर सकते। तो वह चूहा भेदनय का प्रतीक है। भेद करे तो इस तरह करे और अभेद बने तो इस तरह बने। बस यह एक दर्शने की मुद्रा भर है और संभव है कि किसी समय अलंकारों द्वारा ही सब कुछ समझाया जाता होगा। फिर लोग अलंकार की बात को भूल गए और देवता की बात आ गई। मनुष्यों को जो चीज ज्यादा उपकारी होती है उनकी आदत है कि वे उसमें देवता की कल्पना कर डालते हैं और कालान्तर में मूल तथ्य भूल जाते हैं। बहुत से लोग तो अन्न को भी देवता मानते हैं, अरे अन्न को इधर-उधर न बहावो..... अन्न को देवता क्यों कहा कि अन्न बड़ी उपकारी चीज है न। ऐसे ही कुछ उपकार देख लेने के आधार पर किसी के पीपल देवता हो गया, किसी के अग्नि देवता हो गया। अग्नि कैसी उपकारिणी कि इसके बिना किसी का काम न चलता था तो इसका इतना आभार माना कि इसे देवता का रूप दे दिया। कोई दो मनुष्य जा रहे थे—एक तो रूढ़ि श्रद्धा से देवता को मानता था, दूसरा था प्रकट विरोधी। पहिले ने जाकर पीपल को नमस्कार किया। और दूसरा आदमी था इसका विरोधी, सो उसने पीपल के पत्ते तोड़ डाले। खैर, वह, पहिला दिल मसोसकर रह गया कि देखो इसने हमारे देवता का अपमान किया। आगे जाकर एक करौंच का पेड़ मिला। सो पहिले उसे दूसरे को पाठ सिखाने के लिये नमस्कार किया, वहाँ भी उस विरोधी पुरुष ने करौंच की डालियों को तोड़ ताड़ डाला। अब तो उस पुरुष के सारे शरीर में खुजली आ गई, अपने शरीर को खुजाता हुआ वह कह रहा था—अरे इसका दूसरा देवता तो बहुत ही कठिन निकला। तो लोगों की ऐसी आदत है कि जहाँ कुछ अपना स्वार्थ सधे, बात अधिक निभे उसमें अपने देवता की कल्पना करते हैं। यहाँ भेदनय अभेदनय की बात कह रहे हैं। जानने वाला यह ही ज्ञाता और जिस समझ के द्वारा जानता है याने ज्ञान, वह है प्रमाण। तो ज्ञान और आत्मा में भेद नहीं है, तब तो यह बात बन जाती है कि जो पुरुष अपने ज्ञान के द्वारा जानें तो उसी को ही ज्ञान होता, दूसरे को नहीं होता। आप अपने अभिन्न ज्ञान द्वारा जाने तो आपको ही ज्ञान होगा, दूसरे को न होगा।

प्रमाण से प्रमाता का संबंध बनाकर एक ज्ञान द्वारा सब जीवों को ज्ञान न हो सकने का नियंत्रण करने की शङ्काकार की योजना—वे अच्छा, मीमांसक नैयायिक वैशेषिक बतायें तो सही कि जो ज्ञान को आत्मा से जुदा मानते हैं, जुदा पड़ा हुआ जो ज्ञान है उसके द्वारा यह ही जीव जानता है, सारे जीव क्यों नहीं जान जाते? जैसे मेरे लिए जुदा है वैसे ही सबके लिए जुदा है। तो वह उत्तर यह देता है कि ज्ञान का जिस आत्मा के साथ सम्बन्ध है, वही आत्मा जानता है। उस ज्ञान के द्वारा दूसरा नहीं जानता। तो अब देखो ऐसी तर्कणा कर सकते ना, कि जब ज्ञान जुदी चीज है, अलग पड़ा हुआ है पृथक्क्रब्य है तो उस ज्ञान का हममें ही सम्बन्ध क्यों बना और से क्यों नहीं बना? इन खम्भा चटाई आदिक अजीव पदार्थों से भी क्यों सम्बन्ध नहीं बनाया? जब भिन्न है तो वह तो सबसे भिन्न है सबके लिए एक समान है, वह मुझ आत्मा में ही सम्बन्ध बनाये, ऐसा क्यों? सबसे क्यों सम्बंध नहीं बनाया? तो इसके लिए वे यह कहते हैं कि भाई ज्ञान का आत्मा से सम्बन्ध है याने प्रमाण का प्रमाता से सम्बन्ध है। ज्ञान का इस जीव के साथ समवाय सम्बन्ध है, इस कारण से इस ज्ञान के द्वारा हम ही जानते हैं, इस ज्ञान के द्वारा दुनिया नहीं जान सकती। उनके ज्ञान से वे जानेंगे। देखो सब दिमाग की कसरत चल रही है। सीधा मान लें तादात्म्य सम्बन्ध तो झगड़ा मिटे। जो कभी अलग नहीं हो सकता, न जो कभी पहले अलग था, ऐसी दो चीजों का जो सम्बन्ध है उसे कहते हैं वे सम्बन्ध से यह नियोग है। अब बताओ जो कभी अलग था नहीं, जो कभी अलग हो सकेगा नहीं, उसे कहते हैं तादात्म्य। तो तादात्म्य क्यों नहीं कहते? सम्बन्ध की कल्पना क्यों करते? यों कहते ये तादात्म्य तक को भी सम्बन्ध कि इनके भेद करने का नशा चढ़ा हुआ है। जरासी बात देखी और भेदकर डाला, तब ही तो

वे कहते हैं कि द्रव्य स्वतंत्र सत् है गुण स्वतंत्र सत् है, क्रिया स्वतंत्र सत् है, समवाय स्वतंत्र सत् है, सामान्य स्वतंत्र सत् है, विशेष स्वतंत्र सत् है, यह भेद का नशा चढ़ा है ना। प्रमाण को छोड़ दिया, इसलिए उनकी दृष्टि में समझ में आयी कुछ अलग-सी बात तो झट समझ जाते हैं कि स्वतंत्र सत् है। इसी आधार पर वैशेषिकवाद की उत्पत्ति हुई है। तो वे शङ्काकार कह रहे हैं कि जिस ज्ञान का, प्रमाण का जिस प्रमाता में समवाय सम्बन्ध हुआ उस ज्ञान के द्वारा वही जानता। तो अब इस बाबत विचार करो इसमें कितनी आपत्तियां आती हैं? सो सुनो, और इस विषय को सुनने से पहले सम्बन्ध के नाम सुनो।

विशेषवादसम्मत सम्बन्धों का विवरण—दुनिया में सम्बन्ध कितनी तरह के माने हैं, शङ्काकार ने देखो इनकी दृष्टि में पदार्थ ६ मानें गए हैं—द्रव्य, गुण, पर्याय (क्रिया) सामान्य, विशेष और समवाय। पदार्थ के मायने ये बिल्कुल अलग-अलग हैं, स्वतंत्र हैं। किसी का किसी से कुछ मतलब नहीं। ऐसे ये ६ पदार्थ माने, पर जैनशासन यह कहता है कि वे ६ नहीं हैं। वह तो सब एक पदार्थ है। उस एक पदार्थ में जब शाश्वत शक्तियों को देखा तो गुण नजर आये, जब समय-समय की परिणति देखा तो पर्याय नजर आयी। जब साधारण गुण देखा तो सामान्य नजर आया। जब असाधारण गुण देखा तो विशेष नजर आया। परंतु

इतनी नजर होने के आधार पर शङ्काकार ने ५ स्वतंत्र पदार्थ मान डाले। अब आफत यह पड़ गई कि जब ये सब अलग-अलग स्वतंत्र पदार्थ हैं तो इसका कारण क्या है कि यह गुण इसी द्रव्य में जुड़ा, अन्य में क्यों नहीं जुड़ गया? यह पर्याय इसी द्रव्य में आयी और में क्यों नहीं पहुंच गई? यह सामान्य इन पदार्थों में आया औरों

में क्यों नहीं गया ? यह विशेष इसी में रहा अन्य में क्यों नहीं जुड़ा? अब यह आपत्ति आ, गयी सामने तो इस आपत्ति से निपटारा पाने के, लिए समवाय सम्बन्ध मानना पड़ा, तो यह तो है समवाय सम्बन्ध । द्रव्य में गुण का सम्बन्ध, पर्याय का सम्बन्ध, सामान्य विशेष का सम्बन्ध, यह तो समवाय है, मगर द्रव्य तो बहुत है ना । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, नैयायिक सिद्धान्त अनुसार आत्मा, दिशा, मन आदिक बहुत से द्रव्य हैं, तो इन द्रव्यों में अगर द्रव्य-द्रव्य का सम्बन्ध हो तो उसका नाम धरा गया संयोग सम्बन्ध । सम्बंध का ब्यौरा बतला रहे । जैसे चौकी पर पुस्तकें रखी तो चौकी और पुस्तक के सम्बन्ध का नाम क्या है? संयोग सम्बन्ध । अच्छा अब आगे चलो, एक ही द्रव्य में गुण का जो सम्बन्ध है वह है समवाय सम्बन्ध । नैयायिक सिद्धान्त के अनुसार सब बातें चल रही, क्योंकि द्रव्य से गुण न्यारे नहीं किए जा सकते । यह कहलाया समवाय सम्बन्ध । जैसे द्रव्य में रूप है, रूपगुण है । पुद्गल में, रूपगुण है ना तो पुद्गल का रूप गुण के साथ जो सम्बन्ध हो उसका नाम है समवाय और एक पुद्गल का दूसरे पुद्गल के साथ सम्बन्ध बने तो उसका नाम धरा संयोग तो पुद्गल अणु का जो रूप के साथ सम्बन्ध है उसका नाम हुआ समवाय और रूप में रूपत्व है तो रूप में रूपत्व का जो सम्बन्ध है, जैसे मनुष्य में मनुष्यपन, ऐसे ही रूप में रूपत्व । इनका जो सम्बन्ध है । है इसका नाम क्या? समवाय । और पुद्गल में रूपत्व है तो यहाँ हुआ समवेतसमवाय संबंध । पुद्गल में रूप का सम्बन्ध समवाय, पुद्गल में रूपत्व का सम्बन्ध समवेत समवाय मायने समवेत रूप के साथ रूपत्व का समवाय है । तो कितना सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है? बड़ी हैरान गति अपने को कर रखी है एक स्याद्वाद का सहारा छोड़ने से । जीव में ज्ञान के सम्बन्ध का नाम क्या धरा? समवाय । और जैसे जीव में ज्ञान है ऐसे ही शरीर को देखकर भी तो कहते कि शरीर में ज्ञान है । तो शरीर का और ज्ञान का जो सम्बन्ध है उसका नाम है संयुक्तसमवाय अथवा स्वाश्रयसमवाय कैसे कि शरीर का और जीव का तो है संयोग सो यह तो बन गया संयुक्त और जीव में है ज्ञान का समवाय तो शरीर में ज्ञान का जो सम्बन्ध है उसका नाम है संयुक्त समवाय । और ज्ञान में जो ज्ञानपना है, ज्ञान में ज्ञानत्व, तो ज्ञान में ज्ञानत्व का तो है समवाय और जीव में ज्ञानत्व का है समवेत समवाय और शरीर का ज्ञानत्व के साथ है संयुक्त समवेत समवाय ।

पांच सप्तर्क सम्बन्धों के अतिरिक्त विशेषण विशेष्य भाव संबन्ध की आख्या करके शङ्काकार के पुराने प्रस्ताव की रिपोर्ट—देखो दार्शनिक विषय जैनसिद्धान्त में तो यों समझ लो, समझाने के लिए ही चलता है । किस तरह जीव को ज्ञान उत्पन्न हो? यहाँ पाण्डित्य दिखाने का प्रयोजन नहीं है, यह तो भलाई का रास्ता निकालने का प्रयोजन है, पर कुछ दार्शनिकों में पाण्डित्य का प्रयोजन अधिक रहता है । यहाँ दार्शनिक बात कह रहे हैं, मजहब की बात नहीं । तो जब देखेंगे तो कहा जायेगा कि थोड़ी बात और उसकी रचना बनायी जायेगी इतनी कठिन कि बहुत कुछ सुनने के बाद जरासा समझें । तो देखो ऐसे भी व्याख्यान होते कि नहीं कि कोई आधा घंटा व्याख्यान हो जाये और बात कुछ न निकले कि इसने क्या कहा? यह भी एक भाषण की कला होती है । और कोई पुरुष कहीं एक आध मिनट ही बोले और काम की ठीक बात थोड़े शब्दों में रख देता है तो ये ५ प्रकार के तो सम्बन्ध हैं और छठे प्रकार का सम्बन्ध क्या, विशेषण विशेष्य भाव? जैसे छतरी वाले का लक्षण छतरी या अभिन्न विशेषण विशेष्य ले लो । फलाने पुरुष का लक्षण छंगा । ६ अंगुलियां होने के कारण उसका

नाम छंगा पड़ गया । तो विशेषण का विशेष्य के साथ जो सम्बन्ध है वह एक सम्बन्ध है, ये ६ प्रकार के सम्बन्ध माने गए हैं । उनमें से जीव में ज्ञान का समवाय सम्बन्ध है । यह बात कह रहे हैं । जहाँ ज्ञान का सम्बन्ध है वही जीव उस ज्ञान के द्वारा जानेगा, दूसरा न जानेगा—ऐसी बात शङ्काकार ने रखी ।

अब उक्त शङ्का का उत्तर देते हैं—देखो ध्यान न देंगे तब तो बड़ी कठिन बात लगेगी और यदि यह ध्यान आ जाये कि हमारी बात चल रही है, हमारे ज्ञान की बात बतायी जा रही है कि मेरा ज्ञान कैसे होता, कैसे जानता, किस रूप में होता है, यह अपने ठीक ज्ञान की बात कही जा रही है—इस आस्था से सुनोगे तो सरल हो जावेगी । अभी किसी के लड़के की बात कहने लगे कोई तो उसके सुनने में तो वह बड़ी दिलचस्पी लेते हैं, जब कि लड़का एक जुदी चीज है । एक कल्पना में ही तो माना है कि यह मेरा है तो उसकी बात कोई कहे तो लोग बड़ा दिल लगाकर उसे सुनते हैं । और जो वास्तव में खास हमारी चीज है ज्ञान । जिसे छोड़कर हम कभी रह नहीं सकते । मरण हो जायेगा तो भी ज्ञान साथ लेकर जायेंगे । यहाँ बैठे तो ज्ञान साथ है । तुम कहीं जावो, ज्ञान एक ऐसा साथी है कि यह छिन भर को भी तो अलग नहीं हो सकता । आप यहाँ बैठे हैं तो आपके यहाँ न धन दौलत पास है, न मकान पास है, न भाई भतीजे पास हैं और ज्ञान देखो तो आपके पास हैं । कहीं चले जावो तो ऐसी जो आपकी निज की चीज है ज्ञान, उसकी बात करें और उसमें दिल न लगे तो बताओ कुछ अच्छी बात है क्या? जो भिन्न चीज है, कल्पना की बात है उसे मान रखा है अपना, उसकी बात कहो तो बड़ा दिल लगता । तो यह अपनी बात है, ध्यान से सुनो, ज्ञान की बात कह रहे कि ज्ञान प्रमाण है और यह ज्ञान मेरे आत्मा से जुदा नहीं है, इतनी ही तो बात कही जा रही है, मगर शङ्काकार बीच में ऐसी टांग अड़ा रहा है कि ज्ञान बिल्कुल अलग है, जीव अलग है, तो उसे समझा रहे कि अगर ज्ञान ऐसा अलग हो तो उस ज्ञान के द्वारा हम ही जानें, दूसरे न जानें, यह कैसे होगा? तो उत्तर में कहा कि उस ज्ञान का प्रमाण का प्रमाता के साथ सम्बन्ध है इसलिए उस ज्ञान के द्वारा हम ही जानते हैं । अच्छा तो देखो जैसे ज्ञान का हमारे जीव के साथ सम्बन्ध है, ऐसे ही ज्ञान का हमारे शरीर के साथ भी सम्बन्ध है, कैसे? ज्ञान का जीव के साथ तो है समवाय सम्बन्ध और जीव का शरीर के साथ है संयोग सम्बन्ध । सो ज्ञान का शरीर के साथ संयुक्तसमवाय का सम्बन्ध हो गया । फिर उस ज्ञान के द्वारा शरीर क्यों नहीं जानने लगता, फिर उस ज्ञान के द्वारा यह देह भी धर्म की आराधना में लगे । तो कथंचित् जीव से तादात्म्य माने बिना समस्या का हल न हो सकेगा ।

ज्ञान का, प्रमाण का प्रमाता और फल के साथ सम्बन्ध बताकर ज्ञान द्वारा एक ही प्रमाता को अधिगम होने के नियन्त्रण की शंकाकार की असफल योजना—अब शंकाकार कहता है कि देखो इस जीव के साथ ज्ञान का सम्बन्ध भी है और फल का भी सम्बन्ध है और जिस प्रमाता के साथ प्रमाण का और फल का सम्बन्ध हो वह आत्मा जान सकेगा ज्ञान के द्वारा, देखो कुछ विशेषता क्या कर दी? पहले आत्मा के ही साथ सम्बन्ध जोड़कर अपनी बात रखता था शंकाकार, अब आत्मा और फल दो के साथ इस ज्ञान का सम्बन्ध रखा है, सो जिस जीव के साथ ज्ञान का और फल का सम्बन्ध हो वह ही जानेगा, दूसरा न जानेगा । देखो यह भी बात आपके पूरी समझ में आ गई, ध्यान से सुनो—शङ्काकार यह कहता है कि ज्ञान तो अलग पड़ा, जीव अलग पड़ा, फिर

जो यह आपत्ति दी कि ज्ञान अलग पड़ा तो उससे हम ही क्यों जानें? तो एक उत्तर यह दिया कि चूंकि के उस ज्ञान के साथ मेरे आत्मा का सम्बन्ध है इसलिए हम जानते हैं, तो इसमें दोष दिया तो यों तो शरीर का भी सम्बन्ध है तो इस दोष को दूर करने के लिए कहते कि मुझ्हा जीव का इस ज्ञान के साथ संबंध है, और ज्ञान का फल जो जानना है वह जानना भी हममें हो रहा तो उस जानने से भी संबंध है, तो हमारा ज्ञान से संबन्ध है, फल से संबन्ध है तब ही हम ही जानते, दूसरे नहीं जानते। तो इसका भी जवाब वही है कि ऐसा संबन्ध शरीर से भी है दोनों का। शरीर से ज्ञान का तो संयुक्तसमवाय संबन्ध है और उस फल का उस जानने का भी इस शरीर के साथ संयुक्तसमवाय संबन्ध है। इस कारण से वही आपत्ति सामने खड़ी है कि अगर ज्ञान जुदी चीज है तो उस ज्ञान के द्वारा यह जीव ही क्यों जानता? शरीर भी जाने, दूसरे जीव भी जानें और सारे पदार्थ जिन्दा हो बैठें, सब जानकार बन जायें, फिर तो कोई पुद्गल चीज ही नहीं कहलायी। तो इससे यह समझना कि भाई ज्ञान ही प्रमाण है और वह ज्ञान मेरा निजी स्वरूप है। मेरी ये परिणतियाँ चलती हैं। तो इस निज स्वरूप की परिणति के द्वारा हम ज्ञान कर रहे हैं, ऐसा हमारा स्वरूप है। तो इतनी बात समझलो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान ही प्रमाण है, ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही भोगता हूँ, ज्ञान ही फल है। ज्ञान के सिवाय मेरी और कोई दुनिया नहीं है। मैं ज्ञान ज्ञान मात्र हूँ।

ज्ञान के प्रमाणत्व के प्रसंग में प्राप्त समस्या व समाधान के विषय का स्मरण—ज्ञान ही प्रमाण है, इतनीसी बात सिद्ध करने में बड़ी-बड़ी बाधायें आ रही हैं। एक दार्शनिक ने स्पष्ट यह ऐलान कर दिया था कि ज्ञान बिल्कुल अलग पदार्थ है और आत्मा बिल्कुल अलग पदार्थ है और कैसे? उनका मूल सिद्धांत है कि द्रव्य स्वतंत्र सत् है और गुण स्वतंत्र सत् है। ज्ञान गुण ही तो है। जैनशासन में तो गुण से तादात्म्य है। वे स्वतंत्र सत् मान लेते हैं भिन्न पदार्थ। स्वतंत्र सत् के मायने हैं जैसे कि जिसमें ६ साधारण गुण हों, प्रदेश भी न्यारा, आकार न्यारा, परिणमन न्यारा, उसकी बात ही अलग है, ऐसे उन्होंने ६ स्वतंत्र सत् माने हैं—द्रव्य, गुण, पर्याय, सामान्य, विशेष और समवाय। तो उसी आधार पर विशेषवादी कह रहे हैं कि ज्ञान गुण तो स्वतंत्र पदार्थ है और यह आत्मा प्रमाता स्वतंत्र पदार्थ है। और वह ज्ञान तभी तो अचेतन है। मुख्य बात तो यह चल रही थी कि ज्ञान अचेतन है, अचेतन प्रमाण है, इन्द्रिय प्रमाण हैं। इस विषय को लेकर बात चल रही थी। तो चलते-चलते ज्ञान का जिक्र आया, तो यहाँ यह बात रखी जा रही है कि ज्ञान अलग चीज है और इस ज्ञान का जिस प्रमाता के साथ, जिस आत्मा के साथ और ज्ञान के फल का उसी आत्मा के साथ सम्बन्ध हुआ, बस उस ज्ञान के द्वारा वह आत्मा जानता है। तो ऐसा यह ज्ञानस्वरूप प्रमाण और अधिगम, फल याने प्रमिति, इन दोनों के साथ आत्मा का सम्बन्ध बताकर कोशिश की जा रही है कि इस कारण से एक ज्ञान से वही आत्मा जान पाता है, अन्य को उस ज्ञान से ज्ञान होने का प्रसंग नहीं आता। किन्तु यह व्यर्थ का परिश्रम है। सीधा तादात्म्य सम्बन्ध मान लें कि आत्मा है और क्रिया करता है, वह अपनी पर्याय बदलता है, उसकी पर्याय जाननरूप होती है। देखो दो बातों का कोई निवारण नहीं कर सकता—स्वभाव और पर्याय। उसमें भेदभाव करें तो करण भी निकल आयेगा, सम्प्रदान भी निकल जायेगा, अपादान भी निकल आयेगा, षट्कारक निकल आयेगा। तो वह अभेद में ही, षट्कारक बना है और उस ही प्रकार से परिणमन होता है और ज्ञान होता है। यदि ऐसा न मानो

तो अपने शरीर के साथ और अन्य आत्माओं के साथ ज्ञान का संबंध बना बैठे, और फल का संबंध बन बैठे। उसका कौन निवारण कर सकता है? इससे मान लो कि यहाँ प्रमाता का प्रमाण के साथ अत्यन्त भेद नहीं है। आत्मा की ज्ञान से भिन्नता नहीं है, और जो प्रमिति है याने, अपना और पदार्थों का निर्णय करना यह जो अधिगम है यह इस आत्मा से जुदी वस्तु नहीं है। इस तरह से यह बात भली प्रकार बता दी गई कि प्रमाण भाव साधन भी है याने जानना सो प्रमाण।

गुणरूप से, पर्यायरूप से, सामान्यरूप से व विशेषरूप से सामान्यविशेषात्मक पदार्थ के ही ज्ञान की संभवता—अब देखो यद्यपि है, पदार्थ एक ही, गुण, पर्याय, सामान्य विशेष ये जुदे-जुदे पदार्थ नहीं हैं, ये कोई सत् नहीं हैं। सत् तो यहाँ एक ही है—आत्मा, फिर, भी पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से इसमें भेद करने पर गुण अभी समझ में आये, पर्याय भी समझ में आयी, सामान्य समझ में आया, विशेष समझ में आया। तो देखो समझ में आया तब भी अलग गुण नहीं, अलग पर्याय नहीं, अलग सामान्य नहीं, अलग विशेष नहीं। केवल गुण ही हो सत् ऐसा है नहीं, केवल पर्याय ही हो सत् सो नहीं, केवल सामान्य ही हो सत् सो नहीं, केवल विशेष ही हो सत् सो नहीं। जानने में भी ये निराश्रित चार चीजें आती नहीं, तब क्या जानने में आता? सामान्यविशेषात्मक पदार्थ। देखो यह मूल बात न भूलना—“सामान्यविशेषात्मक तदर्थो विषयः।” परीक्षामुख का सूत्र है, कि ज्ञान का विषय, प्रमाण का विषयसामान्य विशेषात्मक पदार्थ है। जानी गयी वही वस्तु। अब वस्तु सामान्यमुखेन जानी जाये तो हम कहते हैं कि सामान्य का ज्ञान। हुआ है सामान्यमुखेन सामान्यविशेषात्मक वस्तु का बोध। जब विशेषमुखेन वस्तु का बोध हो तब कहते हैं कि विशेष का ज्ञान किया। होता है वहाँ विशेषमुखेन सामान्यविशेषात्मक वस्तु का बोध। इसी तरह जब गुणमुखेन पदार्थ का बोध हो तो कहते हैं कि हमने गुण का ज्ञान किया। होता है वहाँ गुणमुखेन सामान्यविशेषात्मक वस्तु का बोध। जब पर्यायमुखेन जानते हैं तो कहते हैं कि हमने पर्याय का ज्ञान किया। होता है वहाँ क्या? पर्यायमुखेन सामान्यविशेषात्मक वस्तु का ज्ञान। अब देखो जो मुख्य रहा, जिस अभिमुखता से, जिन दृष्टियों में तो वही बना प्रधान, इसलिए सामान्यविशेषात्मक वस्तु का ध्यान नहीं किया जा रहा। और कहा जा रहा है कि हमने तो पर्याय को जाना। हमने तो गुण को जाना, हमने तो विशेष को जाना, हमने तो सामान्य को जाना, पर ये चार स्वतंत्र अवस्तु हैं, इन्हें कोई जान ही नहीं सकता। जाना जाता है तो सत् जाना जाता है। अर्थ जाना जाता है जो कि साधारण, असाधारण गुण से, सहित पदार्थ है वह जाना जाता है। बस उसको जिसकी अभिमुखता से जाना उसका ज्ञान कहलाता है। जैसे कोई फल खाया, रस का ज्ञान हुआ तो बताओ रस का ज्ञान हुआ क्या? रसमुखेन उस वस्तु का ज्ञान हुआ, वास्तविकता यह है और इस वास्तविकता को मोक्षशास्त्र ने भी एक “अर्थस्य” सूत्र कहकर स्पष्ट कर दिया और दार्शनिक शास्त्र तो कहते ही हैं। और युक्ति और अनुभव से भी यह आप परख सकते हैं। अगर स्वतंत्र सत् हो गुणपर्याय सामान्य और विशेष चार की ही, बात चल रही है। वैशेषिक मत वाले इन चारों को और द्रव्य को इन ५ को स्वतंत्र सत् मानते हैं, यदि ऐसा हो तब आपत्ति यह आती है कि जब स्वतंत्र सत् है तो यह व्यवस्था कैसे बने कि ज्ञान आत्मा में ही होता है। हम कहते हैं कि ज्ञान चौकी में, होता है। अरे जब स्वतंत्र सत् है, अलग-अलग पदार्थ हैं तो उनका यह सम्बन्ध कैसे, बना कि यह जान जीव का ही है,

यह ज्ञान खम्बे का नहीं, यह आपत्ति आती है। यह पर्याय इस पदार्थ की ही है, यह पर्याय इसकी नहीं, है, यह विपत्ति आयी। कैसे बता सके? जब भिन्न-भिन्न हैं तो उनको मानना पड़ा एक समवाय सम्बन्ध। तो ऐसे ५ पदार्थ वहां स्वतंत्र माने गए हैं और उसमें इस विज्ञान को रख रहे हैं कि ये सब अलग-अलग चीजें हैं। सुना है ऐसा हमने देखा तो नहीं, कि कोई एक मणि वाला सांप होता है जिसके फण में मणि रहती है। तो उस मणि को वह सामने रख लेता है, खुश होता है, नाचता है, देखता है और फिर जब अपनी तबीयत भर लेता है तो उसको, वह फिर अपने फण में ले लेता है। देखिये, यह बात सही है या गलत इसका हमें पता नहीं, पर एक दृष्टान्त दे रहे हैं, ऐसे ही विशेषवादी चल रहे रहे कि इस ज्ञान गुण को अलग करके धर दे, समझ लें और अब बात कर रहे, नाच रहे और फिर जब कोई आपत्ति आयेगी तो झट उस ज्ञान को अपने पेट में धर लेंगे। सम्बन्ध बता देंगे कि समवाय सम्बन्ध है। तो वास्तविकता यह है कि द्रव्य तो एक है। किसी एक आत्मा को ले लो, बस एक ही है। उसकी ये विशेषतायें हैं कि ज्ञान गुण है, ज्ञान की परिणति है। तो ऐसा जो एक ज्ञान है अभिन्न बस वह प्रमाण है।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति में कथंचित् भेदरूपता व अभेदरूपता का विलास—अच्छा अब थोड़ा इस प्रसंग में स्याद्वाद का विलास देखो, चार चीज आयी सामने—ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञासि। ज्ञाता मायने जानने वाला। जिसके द्वारा जाना जा रहा है वह साधन है ज्ञान, जो जाना जा रहा है वह ज्ञेय पदार्थ और जो जानने चल रहा है सो ज्ञासि, ये चार बातें हैं। ये चारों ऐसे अभेद हैं कि देखो ज्ञाता तो जानने वाला बन रहा और जब ज्ञाता को ही जानने चले तो ज्ञाता ज्ञेय बन गया याने एक ही घर में ये चारों ऐसे हेल-मेल से हैं, ऐसी अपनी बदल करते रहते हैं कि जैसे कोई चार लड़के बड़े मित्र हों छोटे-छोटे और वे दौड़ते खेलते हैं तो गद्द-गद्द एक के ऊपर एक गिरते हैं, ऐसे ही यहाँ देखो कि जो अभी प्रमाता बना है वही प्रमेय बन जाता है। जानने वाले को जब हम जानने चलते हैं तो यह ज्ञेय बन गया न। तो प्रमाता ज्ञाता जानने वाला जब अपने को जानता है उस समय वह स्वयं प्रमेय बन जाता है। तो इसी तरह यह जानने वाला जब जानने की क्रिया में व्याप्त है तो बुद्धिपूर्वक स्वयं प्रत्यक्ष होकर भी वह प्रमाण हो जाता है। और वही जानने का रूप है, तो यह ही प्रमाता प्रमिति बन जाता है। तो एकान्त से इनमें भेद मत डालो। भेददृष्टि से भेद है और अभेद दृष्टि से अभेद है। जैसे देखो—क्षणिकवादियों ने और नैयायिकों ने एक चित्रज्ञान माना है। चित्रज्ञान होता ही है याने ज्ञान में दुनिया भर की चीजें प्रतिबिम्बित हो रही हैं। तो अनेक बातें ज्ञान में चलेगी, इसको बोलते हैं चित्र, नाना विचित्र, विविध और देखो सब कुछ एक चित्रसा ही तो उमड़ गया है। ज्ञान में जब समस्त पदार्थ ज्ञेय बन रहे तो ज्ञान में वह चित्र की ही तो झलक है सब। तो जब चित्र की ओर दृष्टि देते हैं तो ज्ञान नाना रूप नजर आता है और जब एक मूल ज्ञान पर दृष्टि देते हैं तो ज्ञान एक नजर आता है। तो जैसे मेचक ज्ञान एक रूप भी है, अनेकरूप भी है। जैसे बताया ना कि आत्मा मेचक है कि अमेचक? समयसार में बताया दर्शनज्ञान चारित्रवान् है, इस दृष्टि से देखें तो मेचक है और चूंकि सब एक ही हैं, द्रव्य हैं, वह आत्मा अमेचक है। यहाँ ज्ञान की बात कह रहे हैं कि यह ज्ञानचित्र विचित्र हो रहा है, अपने एक आत्मा में, तो उस दृष्टि से तो यह मेचक है और चूंकि ज्ञान एक है सो अमेचक है। मोटा दृष्टान्त लो। ८ चीजों को कूटकर एक दवा बना दी

चूर्ण करके, बताओ वह एक है कि ८ है? एक दृष्टि से देखें तो ८ है और एक दृष्टि से देखें तो एक है। अच्छा उन दो में अलग-अलग जो एक-एक काम करता है बताओ वह काम चूर्ण कर सकता है क्या? नहीं कर सकता। जैसे सोंठ, मिर्च, पीपल, हर्र, बहेड़ा, आंवला, अकरकरा व तोमर के बीज—इन ८ चीजों का चूर्ण बनाया जाये तो जो काम सोंठ कर सकती है वह चूर्ण नहीं कर सकता, जो काम हर्र कर सकती है वह चूर्ण नहीं कर सकता और जो काम चूर्ण कर देगा वह काम वे चीजें अलग-अलग होकर नहीं कर सकती। देखो एक भी है, अनेक भी है तथा देखने के प्रभाव भी जुदे-जुदे हैं। ऐसे ही यह ज्ञान एक भी है अनेक भी है। एक ज्ञान की बात कह रहे हैं। ज्ञान में चूंकि सारा जगत् प्रतिबिम्बित हो रहा तो यहाँ उतने ज्ञान हो रहे जितना ज्ञेय सत् हैं, मगर ज्ञान उतने कहाँ है? ज्ञान तो वह एक है। तो जैसे चित्रज्ञान में एकरूपता और अनेकरूपता दोनों का विरोध नहीं है, इसी प्रकार इस आत्मा में प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति इन चाररूपता और एकरूपता का विरोध नहीं है। भेददृष्टि से चार रूप है। अभेद दृष्टि से एक ही रूप है।

तत्त्वाधिगमविस्तार की अपारता—यहाँ तक क्या बात आयी? पुनः स्मरण करना। सूत्रजी में पहले अध्याय में पदार्थों के जानने के उपाय का वर्णन है। देखो तत्त्वों के जानने के उपायों के वर्णन में ही एक वर्ष लग जायेगा और जब जानने चलेंगे तत्त्वों को तो इसमें न जाने कितने वर्ष लगेंगे? तब ही तो कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धि के देव ३३ सागर तक तत्त्वचर्चा, धर्मचर्चा में ही रत रहा करते हैं। देखो सर्वार्थसिद्धि ऊर्ध्वलोक में समझदार संसारी जीवों की सबसे ऊँची जगह है, उससे आगे कोई नहीं। फिर तो आगे एक मोक्षस्थान है। रह गए तो एक निगोदिया, तो उनका सब जगह अधिकार है। वे तो जहाँ सिद्ध बस रहे वहाँ भी रह रहे। तो देखो बहुत अच्छे का सब जगह गुजारा चलता है या बहुत बुरों का सब जगह गुजारा चलता है। निगोदियों को कोई रोकने वाला नहीं। जहाँ सिद्धभगवान् की आत्मा के प्रदेश हैं वहाँ भी वे निगोदिया जीव अपना काम कर रहे हैं। और देखो पाप का उदय कि भक्तजन तो भगवान् के दर्शनों को तरसते हैं और वे निगोदिया जीव सिद्धभगवान् के आत्मप्रदेशों में बैठे हैं और वे वहाँ दुःखी हैं। सिद्धक्षेत्र में निगोदिया जीवों के रहने से कहीं उनका दुःख न कम हो जायेगा? देखो कितनी स्वतंत्रता की बात है? वे तो एक श्वास में आठ-दस बार जन्म मरण करना, बस उनकी यह फैक्टरी चल रही है। और सिद्ध भगवान् अनन्त आनन्द का काम कर रहे। तो उससे कुछ बहुत नीचे एक समझदार जीवों की दुनिया है सर्वार्थसिद्धि। वे देव एक हाथ की अवगाहना के होते हैं। जैसे, यहाँ एक-एक हाथ के छोटे बालक होते हैं, और मानो ऐसी ही शकल का हों, पर यहाँ के बालकों में तो नाक, थूक, खकार आदि गंदी चीजें भरी हैं, वहाँ उनका वैक्रियक शरीर है, यहाँ बालकों में अज्ञानता है, वहाँ बहुत ऊँचा ज्ञान है। देखो द्वादशांग का ज्ञान इन्द्र के भी बताया, सर्वार्थसिद्धि के देवों के भी बताया, मगर केवली श्रुतकेवली नहीं बताया। देखिये कुछ बात रह? जाती है जो कि निर्ग्रन्थ अवस्था में ही होती है। जो मार्ग की बात मिलती है वह भी निर्ग्रन्थ अवस्था में ही रहती है। एक तो ज्ञान है और दूसरे उसका प्रयोग है, इन दोनों में फर्क है। तो इस तत्त्वचर्चा में सर्वार्थसिद्धि के देवों का ३३ सागर का समय गुजर जाता है।

संयम की विशेषता से मनुष्यजीवन की उत्कृष्टता—सर्वार्थसिद्धि के देव चर्चा यह भी करते होंगे कि देवपर्याय कुछ काम की नहीं। चौथे गुणस्थान से ऊपर की परिणति बन सकती नहीं। एक मनुष्यपर्याय ही है, ऐसी कि

जहाँ संयम धारण किया जा सकता है। देवगति से भी अधिक विशेषता मनुष्यगति में क्यों है? संयम के कारण। संयमरहित ज्ञान और श्रद्धान, इन इन दो बातों में देव तो मनुष्यों के बगाबर हैं और मनुष्यों से बढ़कर भी हैं, मगर मनुष्य विशेष खास ठीक है तो एक संयम के कारण। तो जिस संयम के कारण हम आप लोगों की सर्वार्थसिद्धि से भी अधिक विशेषता मानी जाती है, उस संयम का चित्त में आदर न हो, उस संयम की चटापटी न हो, उस संयम को घृणा की दृष्टि से देखें तो बताओ मनुष्य काहे को हुए? देव बने रहते, नारकी बने रहते घोड़ा, बैल वगैरा बने रहते याने सम्यग्दर्शन की बातें तो घोड़ा बैल वगैरा में भी हो सकती हैं, देवों में भी हो सकती हैं, नारकियों में भी हो सकती हैं, और इतने के ही लाने अपने जीवन की मर्यादा बना रखी है, इससे आगे कुछ सोचना ही नहीं है, और इससे आगे की बात को घृणा की दृष्टि से देखना है तो भला बतलाओ मनुष्य होने से लाभ क्या पाया? देखो यह बड़ी जिम्मेदारी का भव है। स्वच्छन्द मनमानी करने से कहीं प्रकृति तो प्रसन्न न हो जायेगी। यहाँ तो जिस जिसका जो बनना है। जिस विधान की बात जो है सो होगी, अन्य प्रकार न होगी। तो देखो सम्यक्त का उद्यम करें और संयम यथाशक्ति धारण करें। तो देखो ज्ञान नहीं भी हो पाया सम्यक्त नहीं हो पाया, फिर भी आप मंदकषाय से रहेंगे तो अगले भव में सम्यक्त मिल जायेगा। वहाँ काम बन जायेगा। और सम्यक्त्व हो गया, और फिर संयम साथ है तब तो उसको मोक्ष का मार्ग मिल गया। चलना विशेष रह गया है। देखो दो बातें हैं—एक देखा जाना और एक चलना। देखा जाना हुआ इसका सम्यक्त और चलना हुआ संयम। मोक्षमार्ग में चले ना, मोक्षमार्ग दिख गया, मोक्षमार्ग का प्रकाश हो गया, मोक्षमार्ग की शुरुआत आ गयी, अब चलने की भी बात आने दो। चलने की ओर से उदासीन मत बने। जितना बने, जो शक्ति हैं उस माफिक चलें और मंदकषाय रहें।

जीवों में चैतन्यमहाप्रभु की याद कर उनसे घृणा न करने में आत्मरक्षा—देखो सबसे बड़ी भारी बात यह है कि सब जीवों में मैत्रीभाव बनाओ, केवल मनुष्यों से ही नहीं, तिर्यज्ज्वों से भी, पशु-पक्षियों से भी। देखो रास्ता चलते हुए में यहाँ (भिन्ड में) पशु सूअर तो काफी मिलते हैं ना, तो उनकी देखकर लोग छिः छिः करते हैं, नाक-भौं सिकोड़ते हैं। अरे उनसे क्या घृणा करना? वे भी एक जीव हैं, आज इस पर्याय में आ गए हैं। अब जरा विवेक रखें, समता रखें उनसे बचकर निकल जायें, उनसे घृणा न करें। उनसे घृणा करना यह तो एक भीतर के अज्ञान की सूचना है। अभी रास्ते में कोई भंगी-भंगिन मिल जाते, हैं तो उनसे लोग घृणा कर बैठते, छिः छिः हट-हट के अपशब्द उनसे बोल देते हैं। भला बताओं, क्या उनके दिल में चोट नहीं लगती होगी? शायद वे यही सोच लेते होंगे कि तुम हमें चाहे समझ पावो या न समझ पावो, पर हम तो तुम्हें समझ गए।.... अरे क्या भंगी-भंगिन भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते? अगर हो सकते तो फिर उनसे क्या घृणा करना? नहीं भी हों ज्ञानी तो भी अन्तः तो चैतन्य महाप्रभु है ही। तो सेब से प्रेम का व्यवहार करो। देखो जिसको यह परिचय हो गया है कि सर्व जीवों में परमात्मस्वरूप है वह किसी जीव के प्रति अदया का भाव न रखेगा और कूरता का बर्ताव न करेगा। परिस्थिति है ऐसी सो करना पड़ता है? बोलना पड़ता है, मगर उसका व्यवहार कूरता का नहीं होगा। देखो अभी अपने जीवन में कितनी ही बातों की कमी है। पहली कमी तो यह है कि प्रेम से बोलना और नम्रता से रहना, इसका पाठ ही अभी नहीं सीखा है इसकी बहुत-बड़ी कमी है। वे अपने

जीवन का उद्धार क्या कर सकेंगे जिन्हें दूसरों से घृणा है, वे अपने जीवन को उन्नत क्या बना सकेंगे जिनको दूसरों के प्रति अदया है, जिनका व्यवहार अप्रिय और कठोर ही बनता है वे कैसे अपनी उन्नति कर सकेंगे? इससे भाई जो बाहरी बातें हैं, धन है, वैभव है, मकान है, गहना है, पक्ष है, पार्टी है—इनका मूल्य मत समझें। मूल्य समझें अपनी आत्मरक्षा का।

सर्व जीवों में सहजसिद्धपरमात्मतत्त्व के निहारने की कला का उपकार—निहारो सब जीवों में अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत प्रकाशमान सहजपरमात्मतत्त्व। अच्छा और फिर इतनी खराबी क्यों हो गई है? भाई कर्म उपाधि का सम्बन्ध है, ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है। देखो निमित्तनैमित्तिक योग की बात सही समझ लें तो आत्मा की प्रशंसा कर पावेंगे। और ऐसा कहें कि कर्म कुछ नहीं, जीव की योग्यता है तो सूअर बन गया, जीव में योग्यता है तो निगोद बन गया। इसमें सभी जीवों के प्रति एक शुद्धतत्त्व की निगाह नहीं बन पाती है। और देखो अब भी इतनी पर्यायें बन रही हैं सूअरों की, जीवों की इतना होने पर भी ये सब परमात्मतत्त्व तो अपने स्वभाव में वैसे ही प्रकाशमान हैं, और यह सब कर्मों का नाच है, कर्म खेल है। हां ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि इसने ज्ञानविकल्प बसा लिया है। देखो कैसी स्थिति हो रही है इस प्रभु की? तो मूल बात एक यह सीख लें कि किसी भी जीव को देखें देख करके एक बार तो उसके अन्तर की यह बात मन में लावें कि यह भी सहज परमात्मस्वरूप है, हल्का नहीं है, तुच्छ नहीं है, दुष्ट नहीं है। यह भी सहजपरमात्मतत्त्व है और फिर जो बीत रही बात वह सब कर्म का नाच है। उसमें अनादि निमित्तनैमित्तिक योग ऐसा है कि इस तरह यह चल रहा है। ऐसा आत्मतत्त्व को जानने के लिए ही समस्त शास्त्रों की रचना होती है और कुछ प्रयोजन नहीं। आत्मा को जानो, आत्मा को मानो और आत्मा में मग्न हो जाओ, केवल इसके लिए सर्व शास्त्र पुराण हैं। सब तरकीबों से, सर्व उपायों से, सर्व नयों से इस चैतन्यस्वरूप की सुध करायी गई है। तब आगम में जो-जो बात कही है, जो-जो उपाय बताये जा रहे हैं, प्रमाण, नय, निश्चय, व्यवहार, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदिक ये सब आचार्य संतों ने परम करुणा करके सत्य शान्ति का मार्ग दिखाने के लिये कहे हैं, उसमें अपनी बुद्धि लगायें और उस समस्त आगम की श्रद्धा करें। आगम का एक-एक अक्षर प्रमाण है, और समस्त आगम का प्रयोजन ही इतना है। तब ही तो समयसार में लिखा है कि जो आत्मा को अबद्ध अस्पष्ट, अनन्य नियत, असंयुक्त अनुभव लेता है वह समस्त जैनशासन को समझ लेता है, क्योंकि जैनशासन में जो-जो कुछ भी उपाय बताया है, समझाया है उन सबका प्रयोजन है यह है कि सहज शुद्ध परमात्मतत्त्व का दर्शन हो।

इन्द्रियार्थसंयोगरूप सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में आपत्ति का दिग्दर्शन—इस प्रसंग में किस बात का निर्णय किया जा रहा है, उसको एक नजर में फिर से ग्रहण करिये। ज्ञान प्रमाण है, यह प्रकरण चल रहा था। उस समय अनेक दार्शनिकों ने अपनी-अपनी बात रखी। एक दार्शनिक ने तो यह बात रखी कि इन्द्रियां प्रमाण हैं, पर अचेतन ने इन्द्रिय को प्रमाण कैसे कोई मान सकता है? तो वहाँ से चलकर अब वह कहने लगे कि इन्द्रिय का और पदार्थ का जो सम्बन्ध होता है, सन्निकर्ष होता है यह प्रमाण है। तो इसी विषय में चर्चा चल रही है कि देखो इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष अगर प्रमाण मानते तो यहाँ बहुत बड़ी विडम्बनायें आती हैं। कैसे सम्बन्ध होते हैं ६ प्रकार के? संयोगसम्बन्ध—जैसे दो द्रव्यों का सम्बन्ध बनाना, शरीर का और जीव का सम्बन्ध

बनाना, यह संयोगसम्बन्ध है न समवायसम्बन्ध—जीवों में गुणों का सम्बन्ध बनाना, यह समवायसम्बन्ध है । ये सब बातें बतलायी जा रही हैं अन्य दर्शन की ओर से । संयुक्तसमवायसम्बन्ध—जैसे शरीर का ज्ञान के साथ सम्बन्ध है, शरीर का संयोग है जीव से और जीव का समवाय है ज्ञान से तो शरीर में और ज्ञान में संयुक्तसमवायसम्बन्ध है अब संयुक्तसमवेत समवायसम्बन्ध देखिये—जैसे शरीर का ज्ञानत्व से सम्बन्ध देखें कि शरीर का संयोग है जीव से? जीव में समवाय है ज्ञान का, ज्ञान में समवाय है ज्ञानत्व भाव का । तो शरीर का ज्ञानत्व से कौनसा सम्बन्ध बना? संयुक्तसमवेतसमवाय । समवेतसमवाय जीव में ज्ञान का समवाय है, ज्ञान में ज्ञानत्व का समवाय है तो जीव का ज्ञानत्व के साथ समवेतसमवाय सम्बन्ध है । इन ५ सम्बन्धों के अलावा और भी अनेक सम्बन्ध होते हैं । जैसे विशेषणविशेष्य सम्बन्ध । तो सभी प्रकार के सम्बन्धों में आपत्ति है कि यदि सत्त्विकर्ष को प्रमाण मानते हो तो । कैसे? सो सुनो—इन्द्रिय का पदार्थ के साथ संयोग होने से ज्ञान होता है—यह बात मानते हैं वैशेषिक याने नेत्र से खम्भा का सम्बन्ध बन गया, खम्भे का ज्ञान हो गया । देखो जैसे नेत्र का खम्भे से सम्बन्ध है, ऐसे ही नेत्र का आत्मा से भी सम्बन्ध है । नेत्र का आकाश से भी सम्बन्ध है, सभी अन्य । द्रव्यों से सम्बन्ध है । उनका ज्ञान क्यों नहीं होता? इस खम्भे का ही ज्ञान क्यों?

विशेषवाद में इन्द्रियों की पृथक्-पृथक् द्रव्यरूपता—देखो वैशेषिक दर्शन की ओर से एक बात और समझे—आंखें बनी हैं आग से, कान बने हैं आकाश से, नाक बनी है पृथ्वी से, जीभ बनी है जल से और स्पर्शन बना है, हवा से । ऐसा वे मानते हैं । देखो चाहे बनना थोड़ा समझ में आवे मुख्यता के अंश से, इन चीजों से, मगर वे सब पुद्गल द्रव्य हैं, और एक-एक से एक नहीं बने, वे तो पुद्गल हैं, सर्वरूप है, आहारवर्गणायें हैं, बन गई, पर ऐसा जो उन्होंने समझ लिया उसका कुछ अंदाजा तो होगा । आखिर वे भी मनुष्य हैं, संज्ञी जीव हैं, ज्ञान रखते हैं । कुछ तो अंदाज किया होगा तो उनका अंदाज देखो । आंखें लगती हैं ना ऐसी जैसे आँखों से किरणें निकले, दीपक से किरणें निकलें, कांतिमान होता, इस तरह कोई आंखें लगती कि इससे किरणें निकलती हैं, चमकती हैं और फोटो आ ही जाते हैं सब के नेत्र में । जैसे कैमरा में फोटो आती है, ऐसे ही आंखों में भी फोटो आते हैं जिन-जिन चीजों को देखें । और कभी लोग मरे हुए आदमी की आंखें देखते हैं जांच करने वाले, जिसको किसी ने मारा हो, कल किया हो उसकी आंखें देखते हैं, ऐसा करते हैं आजकल के लोग । तो आ गई हो फोटो और बनी रहे कुछ ऐसी बात होगी शायद । मतलब यह है कि आंख का कुछ अग्नि जैसा रूपक देखते हैं तब वहाँ यह माना । वस्तुतः तो यों नहीं है कि आंख आग से बने, मगर आंख में आग जैसी कुछ समतासी लगी तो मान लिया उन्होंने । अच्छा, और नाक बनी पृथ्वी से । पृथ्वी का लक्षण माना है वैशेषिक नैयायिक जनों ने गंधवती पृथ्वी, जिसमें गंध हो वह है पृथ्वी । जिसमें रस हो वह है पानी, जिसमें वर्ण हो वह है आग, स्पर्श हो वह है हवा और शब्द हो वह है आकाश—ऐसी ५ बातें मान लेते हैं तो कुछ एक अंदाजसा लगा, बात समझ में न आयी और एकदम कुछ रूपकसा लगा तो मान लिया । जब पहले-पहले रेलगाड़ी निकली थी कोई अंदाज से १०० वर्ष पहले तो जिस दिन मानो उस शहर में से निकली थी तो लोगों की बड़ी भीड़ हुई, देखें तो सही, लोग कहते हैं कि एक इंजन रहता है वह खींचता है । तो देखकर यह ही अंदाज किया अनेक लोगों ने कि हो न हो इसमें काली देवी बैठी है, वह चला रही है रेलगाड़ी । तो अब

जानने की क्या बात? कल्पना की क्या बात? तो जैसे आत्मद्रव्य है वैसे ही पृथ्वी भी है, जल भी है, अग्नि है, आकाश है तो जैसे इस पृथ्वी से नेत्र का संयोग हुआ है, ऐसे ही आकाश का आदि का संयोग हो रहा है। फिर क्या वजह है कि ये आखें इस ही चीज़ को जानें और बाकी आकाश, आत्मा, दिशा, मन आदिक किसी को न जानें। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि संयोग सम्बंध के कारण ज्ञान नहीं होता और संयोग प्रमाण नहीं है, किन्तु ज्ञान प्रमाण है।

दार्शनिक विवरण का महत्त्व—देखो विषय तो कठिन है, पर सुनकर इतना अंदाज कर लें कि हमारे आचार्य जन क्या-क्या रत्न भरकर धर गए और जब उनको समझते नहीं सो कुछ लोग घृणा करने लगे व कहने लगे कि यह सब गलत है, अशुद्ध है। मन में इतना तक आ गया है कि केवल निश्चयैकान्त का जिससे अर्थ निकल सके उसको रखो बाकी सब शास्त्र जला डालो, केवल एक बस निश्चयएकान्त की बात ही सही है, तो अब तो बाकी सारे शास्त्र जला देने चाहिएँ, ऐसा सोच डालते, पर वे यह नहीं पता करते कि श्रुतज्ञान प्रमाण है और श्रुतज्ञान के दोनों अंग हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। इनमें न निश्चय अप्रमाण है, न व्यवहार। इनमें इूठा है तो उपचार। उपचार तो मिथ्या होता है, पर कहीं-कहीं व्यवहार को भी मिथ्या लिखते हैं। ठीक है, सही है, मगर यह सोचना चाहिए कि यह उपचार वाला व्यवहार है। अच्छा देखो दूध दूध तो सबको कहते हैं—गाय, बकरी, भैंस, ऊँट का और एक आक के पेड़ का भी दूध होता है। अब कहा जाये कि दूध पीना चाहिए, और कोई मूर्ख यह सुनकर आक का दूध छटांकभर निकालकर पी ले तो यह उसकी मूर्खता है ना? विवेक करना चाहिए। दूध पीने की बात कहकर कौन से दूध की बात कहीं? जैसे यहाँ विवेक करना, ऐसे ही यह भी विवेक करना कि व्यवहार मिथ्या है कहा, सो ठीक है, मगर विवेक करें श्रुतज्ञान का अंशरूप व्यवहार मिथ्या है कि उपचाररूप व्यवहार मिथ्या है, निर्णय करना चाहिए। उपचाररूप व्यवहार मिथ्या है और श्रुतज्ञान का अंशरूप व्यवहार मिथ्या नहीं। देखो जब किसी के गुण समझ में आते हैं तब ही चित्त उमंग में आता है कि मैं इनके चरणों में लोट जाऊँ और आनन्द के अश्रुओं से चरण पखारूँ। तो इन आचार्य संतों ने जो रत्न भरे हैं ये कुछ समझ में आये तो आपको यह उमंग आये कि वे अकलंकदेव, वे विद्यानन्द स्वामी, वे समंतभद्र स्वामी, वे वीरसेन आचार्य, वे जयसेनाचार्य जो-जो महर्षि हुए, इनका नाम लेकर तब उमंग उमड़ेगी ओह! तुम्हारे चरणों में लोट जाऊँ, तुम्हारे चरणों की धूल मस्तक पर लगाऊँ। अब इन रत्नों को तो परखा नहीं, इससे उनके प्रति उपेक्षा रखती है कि कुछ नहीं हैं, ये आचार्य कुछ भी नहीं जानते हैं। ये रत्न बतला रहे हैं कि बड़ी युक्ति और कसौटी से उतरने वाला यह दार्शनिक विषय युक्तिसाध्य है। जैसे आप किसी बौद्ध से बातें करे और जैनी कहें कि ऐसा नहीं, हमारे शास्त्रों में लिखा है। तो वे कहेंगे कि हम नहीं मानते तुम्हारे शास्त्र, तुम उन शास्त्रों को अपनी आलमारी में रखो। अपने आगम की दुहाई देकर दूसरे को समझा सकते क्या? वे तो नहीं मानेंगे, तो आपको युक्तियों से समझाना पड़ेगा। उन ही युक्तियों का वर्णन दर्शनशास्त्र में है और यह दर्शनशास्त्र इतना गहन बन है कि विद्यार्थी लोग भी जब विषय छांटने जाते हैं, संस्कृत के विद्यार्थियों से पूछा जाता है कि बोलो तुम कौनसा विषय लोगे? जैसे यहाँ साइंस कामर्स, संस्कृत आदि में छांटते हैं, ऐसे ही सिद्धान्त, न्याय और साहित्य में लोग न्याय को कम पसंद करते, साहित्य को ज्यादा पसंद करते, क्योंकि उसका विषय सरल पड़ता

है। तो न्याय का विषय कठिन तो पड़ता है, मगर जो दार्शनिक आनन्द लुटता है अपने में वस्तु के स्वरूप का युक्तियों से ज्ञान करके, वह एक विलक्षण आनन्द है। दर्शनशास्त्र से निर्णय किया हुआ वस्तुस्वरूप ऐसा सामने रहता है जैसे कि दिखने वाली चीज सामने हो।

नयों की समीचीनता का आधार—भाई हम यही चाहते हैं कि सब अपने-अपने पर दया करें और सर्व विकल्पजालों को, ख्यालातों को, यहाँ वहाँ को भूलकर एक अपने वस्तुस्वरूप पर प्रमाण पद्धति से, स्याद्वाद विधि से निर्णय करें। निर्णय करने के बाद खुद यह ज्ञान हो जायेगा। पर्यायदृष्टि को प्रमुख बनाकर कल्याण कर पायेंगे क्या? न कर पायेंगे। तो स्वभाव दृष्टि को प्रमुख बनाकर कल्याण कर लेंगे क्या? हाँ-हाँ कर लेंगे। वह स्वभावदृष्टि उपादेय है, मगर अज्ञानी बनकर स्वभावदृष्टि में बढ़ें तो ऐसा सभी ने किया है। अद्वैतवादियों ने इससे बढ़कर स्वभाव की महिमा कौन बतायेगा कि जो बोलते हैं कि ब्रह्म एक है, अपरिणामी है, उसमें तरंग ही नहीं उठते, वह तो एक चैतन्यस्वरूप है। इतना भी अगर कहें कि उसमें ज्ञान होता है तो वे चोट खा जायेंगे। कहेंगे कि यह बात नहीं बनती। उस चैतन्यस्वरूप में ज्ञान भी नहीं। कैसे बढ़े वे स्वरूप की ओर, मगर वह स्वरूप एकान्त बन गया, क्यों बन गया कि उस स्वभावनय का जो प्रतिपक्षी नय है, पर्यायार्थिक नय है उसका उन्होंने विरोध किया। उस प्रमाण की पहिचान यह है कि जिस नय से बात करना हो सो करना सत्य है, असत्य कुछ नहीं है। जिन लोगों ने जो-जो कुछ बात रखी असत्य कुछ नहीं है। वे सब निश्चय की बातें सत्य हैं, परंतु निश्चयनय का प्रतिपक्षी जो व्यवहारनय है उसका भी निर्णय जब समझ में रखे हों तो वह सत्य है। कोई कहे कि व्यवहारनय का जो विषय है ना गति वगैरा, वह सब असत्य है, तो वह असत्य नहीं है, सत्य है। कब सत्य है कि जब पर्याय दृष्टि का प्रतिपक्षी नय जो निश्चयनय है, द्रव्यार्थिकनय है, स्वभावनय है, उससे जानें कि आत्मा, सहज शुद्ध परमात्मतत्त्व अनादि अनंत विराजमान है। ज्ञान न हो और केवल पर्याय पर्याय को ही रिपीट करें तो वह असत्य है। आचार्य संतों की हम आप पर कितनी परम करुणा रही, जिसका आभार नहीं चुका सकते। सत्य ज्ञान कराकर स्वभावदृष्टि में निःशंक प्रवेश करने के लिए हुक्म दिया है। जब लक्ष्य में चलो तब अगल-बगल कुछ मत झाँको। जब स्वभावदर्शन करो तो पर्यायभेद गुण ज्ञान दर्शन आदिक कुछ मत झाँको। केवल एक अखण्ड निर्विकल्प स्वभाव का दर्शन करो। ऐसा लक्ष्य बनाने की पात्रता हममें कब आये जब हमने अभूतार्थनय से ९ तत्त्वों के पदार्थों की स्वरूप भली-भाँति निर्णय कर लिया है, समझ लिया है, तब इस तत्त्व में रहने वाले एकत्र की बात हम लक्ष्य में ले सके हैं। तो दार्शनिक विषय कठिन तो है, मगर थोड़ा यह भी समझ लें कि हम अपने जीवन में सब सरल-सरल बातें सुनते तो आये, मगर, जैनदर्शन में युक्ति के आधार पर किस तरह तत्त्व का वर्णन किया जाता है, वह कान में ही आ जाये। रोज-रोज सुन करके ज्ञान में भी आयेगा, उपयोगपूर्वक सुनने से कोई बात कठिन नहीं रहती।

व्यवहारनय की उपकारिता—मिलता नहीं कुन्दकुन्दाचार्यकृत षट्खण्डागम। देखो जब उन्होंने वर्णन किया होगा, दूसरी विधि ही नहीं है उसका वर्णन करने की, जैसा अन्य आचार्यों ने वर्णन किया वही विषय तो बताया होगा व्यवहार में। सभी प्रतिपादन व्यवहारनय से होते हैं, समयसार का भी प्रतिपादन व्यवहारनय से बना तो मूल बातें दो तीन पहले धारणा में लाये कि एक तो व्यवहारनय जहाँ मिथ्या कहा भी है वहाँ यह विवेक बनायें

कि यह श्रुतज्ञान के अंशरूप व्यवहारनय का विषय है या उपचारक । व्यवहार का विषय है । जैसे जब दूध पीने के लिए कहा जाये कि जावो दूध पियो, तो वहाँ यह विवेक करना चाहिए कि हमको कौनसा दूध पीने के लिए बताया गया है? गाय, भैंस आदि का दूध बताया गया या आक का । दूध दूध तो दोनों का है । उपचार का भी नाम व्यवहार है और श्रुतज्ञान के अंश रूप नय का भी नाम व्यवहार है । और देखो तो जितना प्रतिपादन है वह व्यवहारनय से ही हो सकता है, निश्चयनय से तो प्रतिपादन होता ही नहीं है, इसलिए जितने शास्त्र हैं, जितने आगम हैं, सब व्यवहारनय के आगम हैं, शुद्ध नय का आगम नहीं है । हो ही नहीं सकता । हाँ, शुद्ध नय के बारे में कुछ संकेत भले ही होता है । शुद्ध नय तो एक लक्ष्य की चीज है और हमारे सारे जीवन उपकारी श्रुतज्ञान के अंशरूप इस व्यवहारनय का ज्ञान है और इस ही करुणा से हम भूतार्थनय का मर्म जान पाये तो हम जिस विधि से सहज बढ़-बढ़कर भूतार्थ के विषय का आनन्द लेने की योग्यता बनाते हैं वह सबको भी यह ही बतलाये कि इस तरह से चलो, इस-इस ढंग से रहो, धीरे-धीरे बढ़ो, यहाँ आना है, यह जानना है । कैसा उपकारी व्यवहार है ? एक माता के समान उपकारी है । जैसे माता अपने बच्चे का पालन-पोषण करती है और उसे तैयार करके खुद मर जाती है ऐसे ही वह व्यवहारनय इस जीव को एक भूतार्थनय का पात्र बनाकर, भूतार्थनय को लक्ष्य में ले ऐसी योग्यता ला देता है यह व्यवहारनय फिर खुद मर जाता है ।

तत्त्वगवेषियों के प्रति घृणा करने की अनुचितता—हम यहाँ एक ज्ञानप्रकाश की बात कह रहे हैं कि ज्ञान प्रमाण है, इस सम्बन्ध में यहाँ टोक दिया गया कि ज्ञान प्रमाण नहीं, किन्तु इन्द्रिय और पदार्थ का सन्त्रिकर्ष प्रमाण है, सम्बन्ध प्रमाण है । देखो घर में अगर ४-६ पुत्र हैं और उनमें कोई पुत्र कुपूत निकल आये तो माता क्या उस कुपूत को कुवें में पटक देती है? अरे वह तो अपने सभी बच्चों का एक, तरह से पालन करती है, ऐसे ही देखो जितने भी दार्शनिक हैं वे सब जैनशासन के १२वें अंग के वर्णन में कहाँ-कहाँ पर लटटू होकर बन गए हैं? जैनशासन से बाहर बन गए पर उनको कुछ घृणा की दृष्टि से न देखो, किन्तु उन्होंने कौनसा विचार बनाया कि जिससे उनको यह मंतव्य जंचा । इसकी खोज करें और खोज करके जो शिक्षा मिले अपने को उसे ग्रहण कर लें । और दूसरे अगर सुधर जायें तो सुधर जाने दो । मुख्य बात यह है कि अपनी संभाल करो । इस बात पर कमर मत कसो कि यह दर्शन खोटा, यह दर्शन खोटा । समझ बने सबकी और रक्षा करें अपनी । यदि यह १०-२० वर्ष का जीवन यदि हमने दूसरे जीवों पर ही दृष्टि गड़ा-गड़ाकर बिता दिया—ये क्यों नहीं समझते, यह बात, ये क्यों नहीं समझते यह तत्त्व, ये समझ जायें, और न, समझे और इसके खिलाफ कहें, तो गुस्सा आये तो ऐसे जीवन से हम अपना क्या सुधार कर लेंगे? हम तो सबसे निराले एक जैनशासन की भक्ति में रहने वाले हैं । मेरे को दूसरे से कोई प्रयोजन नहीं रहा । हो रहे सब काम, मगर आशय यह बनायें कि दूसरे लोग अच्छे चलें तो हमें खुशी है, पर, कोई बुरे चलें तो हमें बुरा मानने की कुछ बात नहीं । इस संसार के अनन्तानन्त जीवों में से अगर कुछ लोगों पर ही दृष्टि गड़ाये रहे तो उससे अपने को क्या लाभ मिलेगा? हैं सब जीव, अपनी सुध लें, अपने पर करुणा करें, ऐसा गम्भीर एक अपना प्रकाश बनाकर । गम्भीर प्रकाश के मायने यह है कि जैसे माता-पिता गम्भीरता से कुपूत सुपूत में भेद नहीं डालते, परिस्थितिवश थोड़ा व्यवहार तो हो जाता है और-और प्रकार का, मगर भीतर आस्था में तो जैसे उसके लिए एक है इसी प्रकार

सर्व मंतव्य वाले, सब प्रकार की धारणा वाले, सबके सब मेरे ही तो हैं, साधर्मा जन हैं । वात्सल्य भीतर से न बिगड़े । अगर यह वात्सल्य बिगड़ जाता है तो हम खुद अपने इस विशुद्ध ज्ञानस्वभाव के अनुभव के योग्य नहीं रह सकते । अपना काम प्रमुख रखें ।

संयुक्तसमवाय नामक सत्त्विकर्ष में प्रमाणत्व का अभाव—हाँ प्रकरण क्या चल रहा है जरा फिर आयें कठिन बात पर । इन्द्रिय और पदार्थ का सत्त्विकर्ष प्रमाण है, यह बात आयी वैशेषिकों की । सो एक दोष तो यह दिया कि यह बात संयोग सम्बंध में घटित नहीं है । अब संयुक्तसमवाय की बात लीजिए, ऐसे ही आंख का सम्बंध तो होता है इस खम्भे से । खम्भा में है रूप का समवाय और हम आंख से रूप को जान जाते हैं तो आंख का और रूप का कौनसा सम्बंध हुआ? यह संयुक्तसमवाय । कोई आंख में रूप तो है नहीं, इसलिए समवाय तो कह नहीं सकते और रूप का आंख से संयोग होता नहीं । इसलिए संयोग भी नहीं । अरे संयोग है खम्भे का और खम्भा में समवाय है रूप का । तो देखो जैसे हम संयुक्तसमवाय सम्बंध से आंख द्वारा रूप को जान जाते हैं तो क्यों जी आंख का और खम्भे के रस का संयुक्तसमवाय नहीं है क्या? कैसे? आंख का संयोग है खम्भे से और खम्भे में समवाय है रस का तो संयुक्तसमवाय सम्बंध से यदि हमने आंख से रूप को जाना तो आंख द्वारा ही हम रस को भी जान जावें । जानते हैं क्या? नहीं जानते । यह दोष आता है, इसलिए संयुक्तसमवाय भी प्रमाण नहीं है । अच्छा और और देख लो—नेत्र का आकाश से संयोग है, आकाश में शब्द का समवाय है तो नेत्र का शब्द के साथ संयुक्तसमवाय हो गया । तो नेत्र शब्द को जानता है क्या? नहीं जानता । तो संयुक्त समवाय सत्त्विकर्ष भी प्रमाण नहीं है, यह बात कहीं ।

संयुक्तसमवेतसमवाय नामक सत्त्विकर्ष में प्रमाणत्व का अभाव—यहाँ चर्चा यह चल रही है कि इन्द्रिय का और पदार्थ का सम्बंध प्रमाण नहीं होता, किन्तु ज्ञान प्रमाण होता है । इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बंध प्रमाण होता—इसमें आपत्ति दी जा रही है । दो सम्बंध तो दूषित हो गए, तीसरा सम्बन्ध देख लो—इसे बोलते संयुक्तसमवेतसमवाय । ध्यान में लावो—जैसे खम्भा में रूप है और रूप में रूपत्व है तो आंख का रूपत्व के साथ सम्बन्ध संयुक्तसमवेतसमवाय है, मायने आंख का संयोग है खम्भा से, खम्भे में समवाय है रूप का और रूप में है रूपत्व का समवाय तो आंख की रूपत्व के साथ कौनसा नाता बना? संयुक्तसमवेतसमवाय । जानते तो हैं, आँख के द्वारा रूपत्व जान गये, वैशेषिक मानते हैं कि रूप जाना तो रूपत्व भी जाना नेत्र से । तो जैसे आंखों के द्वारा रूपत्व जाना, ऐसे ही आंख से रसत्व शब्दत्व आदिक क्यों नहीं जानते, क्योंकि इनमें भी संयुक्तसमवेतसमवोय है । तो यह तीसरा संयुक्तसमवेतसमवाय भी प्रमाण नहीं है । प्रमाण है तो ज्ञान प्रमाण है । कहीं भी देखो—सर्वत्र ज्ञान प्रमाण है । बस जान गए । अगर इतनी बात रखें कि जान गए । ज्ञाता से आगे कोई व्यवहार नहीं होता तो वह आप अपनी शुद्ध किया कर रहे । सही काम कर रहे? । और जहाँ जानने से आगे बढ़े मायने । रागद्वेष की लगार में आये बस वही से विपत्तियां हैं । जैसे अजायबघर में बस देखने-देखने भर की इजाजत है, चीज छूने की इजाजत नहीं है । अगर छुवोगे, तो गिरफ्तार हो जावोगे, ऐसे ही दिखने वाले इन समागमों को देखने भर की इजाजत है, छूने की, भोगने की, राग करने की इजाजत नहीं है । अगर इन्हें छुवोगे तो शरीर की गिरफ्तारी में आ जावोगे, कर्म की गिरफ्तारी में आ जावोगे और ८४ लाख योनियों

में जन्ममरण करने का दंड मिलेगा । इसलिए केवल जाननहार रहे, रागद्वेषादि का लगाव मत रखो । यह ज्ञान आत्मा का धर्म है, इसका आत्मा से तादात्म्य सम्बंध है । सो ज्ञान प्रमाण है, सत्रिकर्ष प्रमाण नहीं ।

कारकसाकल्य की अप्रमाणता—‘तत्प्रमाणे’ इस सूत्र में दो पद हैं—तत् प्रमाणे, अर्थ क्या है कि वह दो प्रमाणरूप है । है और निकाल दो—सीधा शब्दार्थ क्या हुआ? वह दो प्रमाणरूप । इसमें सिर्फ ‘तत्’ इस शब्द की ही व्याख्या चल रही हैं ५-६ दिनों से । वह इसका क्या अर्थ है? जैनशासन ने बात रखी कि ‘ज्ञान’ यह अर्थ है ‘वह’ का । याने ज्ञान प्रमाणरूप है । तो उसमें बाधक बन रहे हैं अनेक दर्शन । किसी ने कहा—कारकसाकल्य प्रमाण है । कारकसाकल्य का अर्थ यह है कि जितनी चीजें चाहिएँ जानने के लिए वे सारी चीजें इकट्ठी हों उसका नाम प्रमाण है । जैसे कुछ जानना है तो आंख भी चाहिए, पदार्थ भी चाहिए, उजेला भी चाहिए । तो ऐसी जितनी बातें जानने में आवश्यक होती हैं उन सब चीजों का समुदाय मिल जाये तो वह प्रमाण है । कारकसाकल्यवादी का कहना है कि देखो आत्मा धरी रहे और उजेला न हो तो जान जाते क्या? ऐसा ये दार्शनिक अपना मंतव्य बताते हैं । आत्मा ही आत्मा प्रमाण है, ज्ञान ही ज्ञान प्रमाण है । कहा धरा प्रमाण? एक उजेला भर न हो तो सब धरा रहे । आँखों के आगे कार्ड लगा दिया तो सब ज्ञान धरा रहे । तो ज्ञान प्रमाण नहीं, आत्मा प्रमाण नहीं, हों उनमें एक ज्ञान भी शामिल है एक आत्मा भी शामिल है । पदार्थ है, उजेला है ऐसी सारी चीजें मिल जायें तो उसे प्रमाण कहते हैं । ‘कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा’ । सब चीजें मिल जायें वह प्रमाण है । ऐसे मंतव्य का तो निराकरण खुद कर सकते हैं कि कहीं प्रकाश प्रमाण है क्या? प्रकाश तो एक अचेतन द्रव्यपर्याय है, क्या वस्तु प्रमाण है? वह तो एक चेतन पदार्थ है । कोई भी प्रमाण अचेतन नहीं हो सकता । चाहे आंख हो, चाहे शरीर हो, कोई भी पदार्थ प्रमाण नहीं होता । यों तो कितने ही प्रमाण मानने पड़ेंगे । जब कोई आप, रजिस्ट्री या रुक्का पढ़ रहे हों, आपको चश्मा लगता हो तो देखो आंख प्रमाण हो गई, चश्मा, कागज, स्याही आदि प्रमाण हो गए, और वह घर भी प्रमाण हो गया जहाँ बैठकर पढ़ते हैं । पानी बरसे तो खुले में तो नहीं पढ़ सकते । तो देखो कितने प्रमाण मानने पड़े? प्रमाण तो कोई एक ही है और वह है ज्ञान । तो सभी चीजें प्रमाण नहीं होतीं । समस्त कारकों का साकल्य याने समुदाय प्रमाण नहीं ।

इन्द्रिय और इन्द्रियसत्रिकर्ष की प्रमाणता के मन्तव्य की चर्चा का स्मरण—दूसरा दार्शनिक बोला कि हां तुम ठीक कहते हो । सर्व कारकों का समूह प्रमाण नहीं । प्रमाण तो खाली इन्द्रिय ही इन्द्रिय है, क्योंकि वह जानने में विशेष कारण है, साधकतम है सो इन्द्रिय प्रमाण है, और इन्द्रिय बिना कोई जीव जाने तो लेगा नहीं । कोई जीव होता ही नहीं इन्द्रिय बिना । लोक में कोई जीव ऐसा न मिलेगा जिसके इन्द्रियाँ नहीं हैं । उजेला बिना भी ज्ञान हो जायेगा । बिल्ली को अंधेरी रात में कैसे ज्ञान हो जाता, उजेला तो नहीं है । मगर इन्द्रिय बिना ज्ञान नहीं होगा, इसलिए इन्द्रिय ही प्रमाण हैं । इसका निराकरण पहिले काफी कर दिया गया । जिस इन्द्रिय को तुम प्रमाण कहते हो वे इन्द्रियाँ भौतिक हैं, तो वे प्रमाण नहीं हैं । अचेतन प्रमाण नहीं होता और यदि कहो कि वे चेतन हैं इन्द्रियाँ तो ठीक प्रमाण है । मगर उसका अर्थ है भावेन्द्रिय । और भावेन्द्रिय है ज्ञानविशेष । तो ये भौतिक इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हो सकतीं । तो इस पर तीसरा दार्शनिक बोला कि इन्द्रिय तो प्रमाण नहीं हैं, पर

इन्द्रिय और पदार्थ में जो भिड़ाव होता है वह प्रमाण है। इन्द्रिय पदार्थ से न भिड़ें और जान तो लें, बर्फ को हाथ से छूते हैं, भिड़त हो गई तो आपको ठंड लग गई। अब बर्फ रहे और किसी बाहरी स्पर्श से भिड़त न हो तो ठंड का ज्ञान कैसे हो सकता है? ऐसा सन्निकर्ष को ही प्रमाण कहने वाले दार्शनिकों के मंतव्य के बारे में चर्चा चल रही है। सन्निकर्ष होता है ६ प्रकार से। उनमें से तीन सन्निकर्ष का वर्णन तो कल कर दिया गया।

समवाय को प्रमाण मानने में व्यभिचार का प्रदर्शन—अब चौथा सन्निकर्ष समवाय वाला है। उसकी चर्चा सुनिये। शंकाकार का कहना है समवाय प्रमाण बनता है। देखो—कर्ण से श्रोत्रइन्द्रिय द्वारा शब्द सुना गया, और देखिये शब्द का आकाश में समवाय मानते हैं वैशेषिक, और क्या मानते हैं कि जब शब्द सुने ना तो जैसे एक नाम ले लिया—महावीर। विशेषवादियों का यह कहना है कि जब 'म' बोला तब ज्ञान नहीं हुआ, जब 'हा' बोला तब ज्ञान नहीं हुआ, जब 'बी' बोला तब ज्ञान नहीं हुआ और जब 'र' बोला तब ज्ञान हुआ। शब्द में जितने शब्द हैं उनमें जो आखिरी शब्द है वह आखिरी शब्द का जो समवाय है वह ज्ञान कराता है और पहले जो शब्द बोले गए वे फोकट के थे। तो भला बतलाओ कि जब समवाय प्रमाण है तो पहला शब्द जो म बोला—क्या उसका आकाश से समवाय नहीं है। आकाश तो व्यापक है और आकाश का गुण माना शब्द वैशेषिकों ने वह भी व्यापक है। सभी जगह भरे पड़े हैं शब्द। और देखो जब कोई पूछे कि जब शब्द सभी जगह भरे पड़े हैं तो जब मुख चलाते हैं और शब्द उत्पन्न होते हैं तो वे कैसे उत्पन्न हो गए? शब्द तो पहले से ही थे। तो वैशेषिकों का उत्तर यह है कि मुख से शब्द उत्पन्न नहीं होते, किन्तु मुख से शब्द का ढक्कन उघड़ जाता है। जैसे घर में बहुत चीजें रखी हो और उन पर कपड़ा ढाक दिया तो कपड़ा उघड़ने से क्या वे चीजें बन गई या उघड़ गई? बनी तो नहीं उघड़ी हैं। तो विशेषवाद में यह कहते हैं कि तालू औंठ चलाने से शब्द उघड़ते हैं, बनते हैं, अपनी-अपनी गैल सबको मालूम है और सब अपनी-अपनी गैल निकाल लेते हैं। खैर, यह विषय अलग है, पर बात यहाँ यह कही जा रही है कि यह समवाय सन्निकर्ष ज्ञान का कारण होवे तो जिस समय एक शब्द महावीर बोला तो म के समय, हा के समय, वी के समय क्यों नहीं ज्ञान होता? र के बाद क्यों ज्ञान होता? र से ही ज्ञान क्यों होता है? क्या शुरू के शब्दों में समवाय सम्बन्ध नहीं है, और क्या श्रोत्र से भिड़ते नहीं। जब म बोला तो उसका आकाश में समवाय है और आकाश से ही श्रोत्र निर्मित है, क्यों नहीं ज्ञान होता? तो इससे मालूम होता है कि समवाय प्रमाण नहीं है, ज्ञान प्रमाण है। जब म हा वी बोला तब तक ज्ञान नहीं बनता कि क्या बोला गया? तो पूर्व संस्कारसहित र का जो बोध हुआ उससे ज्ञान लिया गया कि यह बोला गया। ज्ञान प्रमाण हो गया। तो यह चौथा सन्निकर्ष भी प्रमाणभूत नहीं है, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

समवेतसमवाय में प्रमाणत्व की असिद्धि—अब ५वां देखो, ५वां नाम है समवेतसमवाय। समवेतसमवाय, चूंकि कान और आकाश एक ही चीज है वैशेषिकों के यहाँ, इसलिए इसे समवेतसमवाय बोलेंगे। कान तो शब्द को जान जायें, अभी शब्द की बात कही थी, अब शब्दत्व की मायने शब्दपने की बात कह रहे हैं। जैसे महावीर शब्द बोला तो म शब्द में शब्दत्व है कि नहीं, हा शब्द में शब्दत्व है कि नहीं वी शब्द में शब्दत्व है कि नहीं

और र शब्द में भी शब्दत्व है कि नहीं? शब्दत्व तो सबमें है, पर र में जो शब्दत्व है उसका बोध हुआ और बाकी तीन (म हा वी) में क्यों नहीं हुआ? तो सन्निकर्ष प्रमाणभूत नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचार आता है। सन्निकर्ष होते हुए भी ज्ञान नहीं हो रहा। तो कैसे कहते कि सन्निकर्ष प्रमाण है? शब्दत्व का समवाय है शब्द में, शब्द का समवाय है आकाश में। आकाश और कान एक ही चीज है, क्योंकि कान आकाश से बनते हैं वैशेषिक दर्शन में। यदि समवेतसमवाय प्रमाण होता तो यहाँ व्यभिचार कैसे बन गया? इससे सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

विशेषणविशेष्य सम्बन्धादि नामक छठा सन्निकर्ष—अब छठा सम्बन्ध है विशेषणविशेष्य भाव। याने कहते-कहते जो कुछ और बच गए हों सम्बन्ध वे सबके सब ले लिये छठे में जैसे दानदाताओं की सूची लगती है ना, इनके इतने, इनके इतने, और फुटकर इतने हो गए तो ऐसे ही ५ सम्बन्ध बताये, अब छठवें में क्या बता दिया? फुटकर, विशेषणविशेष्य ले लिया, संयुक्तविशेषण लिया, संयुक्तसमवेत विशेषण लिया आदि जो-जो मुँह पर आयें सब ले लो। क्यों लिया? जब यह पूछा गया, कि यह पदार्थ तो इन्द्रिय के सम्बन्ध से जान लिया, गया, एक मोटी बात हों, मगर अभाव भी तो जाना जाता है जैसे कहते हैं कि यहाँ लोटा नहीं है, यहाँ थाली नहीं रखी। अभाव भी तो जानने में आता। तो अभाव के साथ कैसे इन्द्रिय का भिड़त हुआ, सो तो बताओ? समवाय से तो इन्द्रिय की भिड़त नहीं, तब समवाय कैसे जाना जायेगा? यह समस्या सामने आती है ना। जो इस बात पर उतारूँ हो गए कि इन्द्रिय और पदार्थ का भिड़त हो, सन्निकर्ष हो तब ही ज्ञान हो सके तो वह बतायें कि अभाव के साथ किसका भिड़त होता? जो अभाव जाना गया तो उसके लिए एक फुटकर सम्बन्ध मानना पड़ा—विशेषणविशेष्य सम्बन्ध। कैसे कि देखो, कोई लड़का गया कमरे में मानो कोई थाली उठाने के लिए और वहाँ थी नहीं तो उस कमरे को देखकर वह कहता है किए वहाँ थाली नहीं है। तुमने अच्छी तरह देखा? हाँ-हाँ अच्छी तरह देखा। क्या? थाली नहीं, यह देखा। तो इस अभाव का कैसे सम्बन्ध बना? कुछ गैल निराली जा रही है सो सुनो। थाली का अभाव है कमरे का विशेषण। जैसे कमरे में थाली नहीं है तो यह कमरा कैसा है? थाली के अभाव वाला कमरा है। बन गया विशेषण। जैसे कहते हैं कि कपड़ा कैसा है? साफ है। तो साफ बन गया विशेषण। ऐसे ही कमरा कैसा है? थाली के अभाव वाला है। तो थाली का अभाव बन गया विशेषण और उस अभाव का सम्बन्ध है कमरे के साथ और कमरे को आँखों से जाना ही है तो यों अभाव से आँखों का सम्बन्ध बन गया। यह माना गया छठा सम्बन्ध।

वस्तुतथ्यों को जानने में प्रमाद न करने का अनुरोध—देखो सीधी-सादी दाल रोटी बनाकर रोज-रोज, खाते-खाते जी उकता जाता है ना, तो मन करता है कि चलो आज अमुक, चीज बना लें, आज अमुक चीज बना लें, तो ऐसे ही समझो कि एक सीधी-सादी? सरल बात जीव, पुद्गल, भेदविज्ञान, यही-यही सीमित-सी बात सुनते रहे तो ठठेरे के कबूतर जैसी दशा, हो जाती है। जैसे ठठेरे के यहाँ रहने वाले कबूतर के ऊपर रोज-रोज ठनठन की आवाज होते रहने का कुछ भी प्रभाव नहीं, पड़ता, वह तो ज्यों का त्यों उस आवाज को सुनता रहता है। वह ठनठन की आवाज सुनकर भगता नहीं। ऐसे ही रोज-रोज वही-वही चीज सीमितरूप में सुनते रहने से कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। मन करना चाहिये कि कोई नई-नई चीज की जानकारी करें। देखो काम तो

न चलेगा दाल रोटी खाये बिना, यह तो करना ही होगा । ऐसे ही काम तो न चलेगा भेदविज्ञान बिना । पूरा तो इसी से पड़ेगा कि जहाँ आत्मस्वातंत्र्य का बोध हो । पुदगल से जीव को न्यारा समझें, कषायों से जीव को न्यारा जानें । काम तो देगा यही भेदविज्ञान, स्वभावज्ञान । मगर रोज-तेज सुन-सुन करके अपने-अपने अनुभव से विचार लो कि वहीं के वहीं हैं कि नहीं? कुछ उत्थान किया क्या? बात सही है, ठीक है । करना वही है, करो, मगर सीमित रटंत में तृप्त न हो जावो, ज्ञान के लिए तो सदा भूखे रहो । हमें तो सब तथ्य जानना है, सब कुछ समझना है । देखिये प्रथमानुयोग के कथानक पढ़ें तो वहाँ भी ज्ञान और वैराग्य की शिक्षा मिलती है । जब यहाँ ही नाटकों में, थियेटरों में व सिनेमा में देखते हुए बीच-बीच अश्रु आते रहते हैं और अन्त में जब मुख्य पात्र के ऐश्वर्य का दृश्य सामने आता है तो वहाँ कितनी प्रसन्नता होती है तो ऐसे ही पुराण पुरुषों के चरित्र सुनकर भी हमें ज्ञान और वैराग्य की झलक मिले तो क्या सम्भव नहीं है? तो जैन आगम की कौनसी बात व्यर्थ है सो बताओ? सबका उपयोग उठाओ । उपयोग लेने की कला सीखो और देखो सब कुछ कहकर भी आना है भेदविज्ञान पर ही । सारे भोजन बनाकर भी आप खुश होंगे तो दाल रोटी से ही । चाहे आप प्रथमानुयोग पढ़ें, चाहे करणानुयोग पढ़ें, चाहे चरणानुयोग और चाहे द्रव्यानुयोग । आखिर अन्त में आना पड़ेगा अपने आत्मा में ही । कल्याण तो तब ही होगा । मगर सीमित बात ही रोज-रोज सुनने से एक ऐसी स्थिति हो जाती है जैसे कि गाड़ी में चलने वाला गलियार बैल । जैसे उसे कितना ही पीटा जाये, पर वह आगे नहीं बढ़ता, ऐसे ही कितना ही समझाया जाये, पैर आगे बढ़ाव नहीं होता । तो भाई आगम में सर्व रत्न भरे हैं, सबसे लाभ है ।

संयुक्तविशेषणादि सत्रिकर्षों में प्रमाणत्व की असिद्धि—यहाँ शङ्काकार की चर्चा चल रही है कि ज्ञान प्रमाण नहीं है, सत्रिकर्ष प्रमाण है । इस विषय में बात चल रही है कि जो छठा सम्बन्ध माना है सत्रिकर्ष विशेषणविशेष्य भाव का तो विशेषणविशेष्य भाव मानते हुए कि थाली के अभाव का सम्बन्ध है कमरे के साथ, कमरे को आंखों ने देखा, इस तरह एक संयुक्तविशेषण संबन्ध द्वारा थाली के अभाव को जाना । पर बताओ तो सही वि किसी को नासिका का मल दूर करना हो तो सीधे ही क्यों नहीं छिड़क देते । हाथ को टेढ़ा मेढ़ा करके, उसकी विशेष कवायत करने की क्या जरूरत? सीधे सादे मान लो आखिर वे भी पहुंचेंगे ज्ञान तक ही । ज्ञान हो प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नहीं होता । इस तरह कारकसाकल्य प्रमाण न रहा, इन्द्रिय प्रमाण न रहा, इन्द्रियव्यापार प्रमाण नहीं और इन्द्रिय सत्रिकर्ष प्रमाण नहीं ।

प्रतिनियत ज्ञान की सिद्धि के लिये सत्रिकर्षादि में योग्यता मानने का विफल श्रम—अब शंकाकार जब कि सब बात से थक गए कि सम्बन्ध भी हो रहा है, फिर भी प्रमाण नहीं बन रहा । जैसे आंखों का आम के रस से सम्बन्ध बन रहा, क्योंकि आम में रूप भी है, रस भी है । जब आंख से देखा आम तो रस से भी सम्बन्ध बन गया । कोई आम रस से जुदा तो नहीं है । पर रसज्ञान क्यों नहीं होता? आंखों से रूप का ही ज्ञान क्यों होता? तो उस विषय में उत्तर देते हैं कि इस सत्रिकर्ष में भी ऐसी योग्यता है कि किसी योग्यता को पाकर सत्रिकर्ष ज्ञान कराता है और वह योग्यता नहीं होती तो ज्ञान नहीं कराता । उसका उत्तर साफ है । जब तुम योग्यता पर उतरो तो सीधे आत्मज्ञान की योग्यता में आ जावो, सम्बन्ध की योग्यता में न उतरो और वह योग्यता

क्या है? ज्ञानावरण का क्षयोपशम। जैसे जिस ज्ञानावरण का क्षयोपशम है उसके अनुकूल उपयोग लगने पर उसका ज्ञान होता है। देखो एक बात और ध्यान में दो—स्वानुभव होता है ना वहां, पर कैसे होता स्वानुभव? जिसके स्वानुभूत्यावरण प्रकृतिका क्षयोपशम है उसके उस क्षयोपशम लब्धि के रहने पर तथा उपयोग होने पर स्वानुभूति होती है। प्रकृतियां १४८ ही नहीं हैं। ज्ञानावरण के कितने भेद? मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। अब देखिये मतिज्ञानावरण के कितने भेद हैं—अक्षमत्यावरण, स्मृत्यावरण, तर्कावरण, प्रत्यभिज्ञानावरण, अनुमानज्ञानावरण। अच्छा और हर एक के कितने भेद हैं? कहते हैं कि इतने भेद लगा लो जितने पदार्थ होते हैं। जैसे इस कमरे में १०० चौजे रखी हैं और उन १०० चौजों का ज्ञान कर रहे। खम्भा जाना तो निश्चित है कि हमारे खम्भाज्ञानावरण का क्षयोपशम है, चौकी को जाना तो चौकीज्ञानावरण का क्षयोपशम विदित है। कितने ज्ञानावरण होते हैं? अरे जितने पदार्थों का ज्ञान नहीं हो रहा, उतने ज्ञानावरण छाये थे जीव में, और पदार्थ हैं सारे। तो एक आत्मा का ज्ञान नहीं हो रहा तो क्या है? आत्मज्ञानावरण छाया। और आत्मज्ञानावरण का विगम विशेष हो तो आत्मज्ञान हो जाये। तो जितना-जितना ज्ञान होता है उस-उस पदार्थविषयक ज्ञानावरण का क्षयोपशम है, यह तो हुई ज्ञानलब्धि और इसका हुआ उपयोग याने उपयोग, उस ओर लगा तो उसका ज्ञान होता है। इस तरह ज्ञान बनता है। और यों ज्ञान प्रमाण है। इस ज्ञान को छोड़कर अन्य कुछ प्रमाण नहीं है।

इन्द्रियशक्ति को प्रमाण कहने का अर्थ अर्थग्रहण योग्यता मानने पर भावेन्द्रियरूप ज्ञान के प्रमाणत्व की सिद्धि—अब देखो होता है ना ऐसा कि जो हठी होता है वह मरते-मरते भी अपने हठ की कोई न कोई बात कहता है। ऐसे ही पंचायत में एक जाट ने अपने किसी हिसाब की बात में कह दिया कि ३० और ३० मिलकर ८० होते हैं। सभी ने कहा—अरे ८० कैसे होते? ६० होते हैं। तो उसको हठ हो गई कि ३० और ३० मिलकर ८० ही होते हैं। और साथ ही यह भी कह बैठा कि यदि ३० और ३० मिलकर ८० न होते हों तो हम अपनी ५ भैंसे से जो करीब १०-१० सेर दूध देती हैं वे हम पंचों को दे देंगे। यह बात उसकी स्त्री को भी मालूम हुई। जब जाट घर गया, स्त्री को उदास देखा तो उदासी का कारण पूछा—स्त्री ने कहा कि आपने पंचायत में कह दिया है कि ३० और ३० मिलकर ८० होते हैं और यह भी कह दिया है कि यदि ८० न होवे तो हम अपनी सभी भैंसें पंच को दे देंगे, सो हमें दुःख इस बात का है कि कल हमारी सभी भैंसें पंच लोग ले लेंगे। तो वह जाट बोला—अरी तू तो बड़ी नादान है, चाहे सभी लोग कहते फिरें कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं, पर हम जब अपने मुख से कहें कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं तभी तो पंच लोग भैंसें ले सकेंगे। यह हमारे पास लट्ठ किसलिये है? तो भाई कोई ऐसी ही हठ करे तो उसका क्या इलाज? यहाँ सन्त्रिकर्षवादी अपनी सब बातों में असफल हो गया तो अब वह कहता है कि चलो इन्द्रिय प्रमाण न सही, इन्द्रिय सन्त्रिकर्ष प्रमाण न सही, मगर इन्द्रियशक्ति तो प्रमाण है। इतनी बात तो हमारी रख लो। अब हमारा आखिरी समय है, हम आप से विदा हो रहे हैं तो कम से कम हमारी इतनी बात मानकर तो हमारी लाज रख लो। कह तो दो कि इन्द्रियशक्ति प्रमाण है। तो सुनो, इन्द्रियशक्ति का अर्थ क्या करते हो? यह इन दार्शनिकों से पूछ रहे। यदि कहो इन्द्रिय की योग्यता ही इन्द्रियशक्ति है तो बस वही तो बात आ गई। भावेन्द्रिय है, यही योग्यता है, यही

ज्ञान है और यहीं प्रमाण कहलाता है। तो एक आत्मयोग्यता बिना, एक ज्ञानयोग्यता बिना तो प्रमाण नहीं आता, इसलिए ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञान को छोड़कर अन्य कुछ प्रमाण नहीं। इन्द्रियशक्ति भी तो आत्मा की लब्धि का ही नाम है। जैसे बोला कि तीन इन्द्रिय जीवों में जानने की शक्ति है, इसे चाहे यों बोलो कि तीन इन्द्रिय जीव में तीन इन्द्रियावरण का क्षयोपशम है, तीन इन्द्रिय से जानने की योग्यता है। शक्ति योग्यता से अलग क्या चीज है? इसलिए इन्द्रियशक्तिप्रमाण कहा तो योग्यता का अर्थ समझ कर कहने चलो तो तुम्हारी हाँ में हाँ कहे देते हैं और यदि ज्ञान और योग्यता को छोड़कर और कुछ हौवा हो तुम्हारी इन्द्रियशक्ति का अर्थ तो वहाँ पर भी तुम विचार करो, वह प्रमाण नहीं है। कोई भी अचेतन प्रमाण नहीं हो सकता। जो ज्ञान है, जिसमें चेतना है वह ही प्रमाण हो सकता, अन्य कुछ प्रमाण नहीं हो सकता।

ज्ञान के प्रमाणत्व की चर्चा में अपनी ही खास की चर्चा—भैया! बताओ, यह बात किसकी की जा रही है? खुद की। कुछ आदमी ऐसे भोले होते कि उनकी ही तो बात की जा रही हो और वे पहिचान नहीं कर पाते कि हमारी बात कही जा रही है। ऐसे ही कही तो जा रही है अपने आत्मज्ञान की बात, आत्मा है, ज्ञानस्वरूप है, कैसा ज्ञान है? कैसी योग्यता है और समझ में न आये कि हमारी बात कही जा रही है और आंखें भी देखें कहीं और जगह, किसकी बात कही जा रही है, किसी और की बात कही जा रही है तो वह ऐसा ही भोलापन समझिये। भाई ऐसा भोलापन दूर करो। बाह्य पदार्थों में तो भोले बन जावो, पर आत्मा के ज्ञान में भोले मत बनो। कुछ लोग कहते हैं कि हमारी याददास्त इतनी खराब हो गई कि हम भूल जाते हैं। ठीक है यह, मगर बाहरी पदार्थों की बात भूल जावो, इसकी भी खबर न रहे, उसकी भी खबर न रहे तो यह गुण है कि दोष है? अरे यह तो गुण है। और वे यह बतायें कि आत्मा की खबर तो कहीं नहीं भूलते? चाहे कितने ही वृद्ध हो जाये ५०-६०-७०-८० वर्ष के हो जायें, कितनी ही बड़ी उम्र के हो जायें, फिर भी जिसने आत्मा का ज्ञान पाया है वह कभी उस आत्मा की बात को भूल नहीं सकता। चाहे इन्द्रियाँ कितनी ही शिथिल हो जायें, यहाँ तक कि मरण समय में वह बेहोश जैसी हालत में भी हो जाये, जिसे लोग समझ लेते कि यह तो बड़ा ज्ञानी था, पर इसको मरण समय बेहोशी है, ज्ञान बिगड़ा हुआ है, सावधानी नहीं है, इसका खोटा मरण हो रहा...., पर ऐसी बात नहीं। ज्ञानी पुरुष को बेसुधी में भी ज्ञान का तो प्रत्यक्ष होता ही है। उसे कोई नहीं मेट सकता। चाहे वह बेहोश हो जाये, उसकी कैसी भी स्थिति हो, जिसने ज्ञान का साक्षात्कार किया ऐसे पुरुष के ज्ञान को रोकने में कोई समर्थ नहीं है। उसी ज्ञान की यह चर्चा है कि हम आप में जो ये ज्ञान बनते हैं तो उनकी विधि क्या है और प्रमाण कौन है? यह ज्ञान ही प्रमाण है।

इन्द्रिय, सत्त्विकर्ष व इन्द्रियशक्ति के प्रमिति में कारणत्व व साधकतमत्व की असिद्धि—प्रसंग चल रहा है प्रमाणत्व के निर्णय का। निर्णय किया गया कि ज्ञान ही प्रमाण है। तब इसके खिलाफ अनेक दार्शनिक आये, उनमें से इस समय तीन बातों को सामने रखिये। कोई लोग कहते हैं कि इन्द्रिय प्रमाण हैं, कोई कहते हैं कि इन्द्रिय व पदार्थ का सम्बन्ध याने सत्त्विकर्ष प्रमाण है, तो कोई कहते हैं कि इन्द्रिय की शक्ति प्रमाण है—ये तीन बातें सामने रखो और उनके मुकाबले में एक बात सामने रखें। जैसे तराजू में दो पलड़े हैं—एक पर रखो ज्ञान और एक पर रखो ये तीन चीजें—इन्द्रिय, सत्त्विकर्ष और इन्द्रियशक्ति। अब इसका कुछ विवेचन छुटपुट विवाद

संघर्षरूप में समझियेगा। उन तीन बातों में से किसी के लिये भी पूछा जा रहा है कि बतलावो ये इन्द्रिय और सत्त्विकर्ष और इन्द्रियशक्ति प्रमाण है, इसमें आपका हेतु क्या है? तो, शंकाकार कहते हैं कि बात यह है कि ये प्रमिति में साधकतम हैं। साधकतम मायने किसी काम में जो असाधारण साधन हो। जैसे काठ के काटने में कुल्हाड़ी साधकतम माना है। जो किसी काम के किये जाने में विशेष साधकतम हो उसे कहते हैं साधकतम। वे कहते हैं कि इन्द्रियशक्तियाँ ये साधकतम हैं, इसलिए प्रमाण हैं। प्रमाणता का हेतु यह है कि यह साधकतम है। तो फिर पूछो कि यह इन्द्रिय आदि साधकतम है, इसका हेतु क्या? तो शंकाकार कहते हैं कि ये ज्ञान में कारण हैं इस कारण साधकतम हैं। तो कहिये वाह, यह तो इतरेतराश्रय दोष हो गया। साधकतम होने से कारण सिद्ध होता है और कारण सिद्ध होने से साधकतम बनता है। जैसे एक ताला आता है ना जो बिना चार्भी के लग जाये। चार्भी रह जाये संदूक में और लगा दिया जाये ताला, तो क्या परिस्थिति होती है? जब ताला खुले तब चार्भी निकले, जब चार्भी निकले तब ताला खुले। ऐसे ही यहाँ भी एक झंझट बना लिया। ये इन्द्रियसत्त्विकर्ष ये शक्तियाँ जब साधकतम सिद्ध होवे तो कारण बने और जब कारण सिद्ध हो तो साधकतम बने। तो इस कारण से इन तीनों को प्रमाण नहीं सिद्ध किया जा सकता।

इन्द्रियादि के प्रमाणत्व सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत तद्वावाभाव में भावाभाववत्ता हेतु की असिद्धि—अब यह दार्शनिक कहता है कि इस कारण से प्रमाण न सिद्ध होने पर हम एक नया कारण और बतावें सो सुनो। यहाँ इन्द्रियाँ, सत्त्विकर्ष और शक्तियों को प्रमाण मानने वाले कहते हैं कि बात यह है कि इनके होने पर ज्ञान होता है, प्रमाण होता है और न होने पर प्रमाण नहीं होता इसलिए ये प्रमाण माने जाते हैं। तो उत्तर स्पष्ट है। पहले भी बता दिया कि यह सही बात नहीं है। कभी इन्द्रिय हैं तब भी ज्ञान नहीं होता, कहीं इन्द्रिय नहीं हैं तब भी ज्ञान होता। जैसे सर्वज्ञ के इन्द्रिय नहीं हैं और ज्ञान होता है और सोये हुए पुरुष के इन्द्रियां हैं और ज्ञान नहीं होता, यह सत्त्विकर्ष की बात है और यह ही शक्ति की बात है और अगर इस तरह से प्रमाण कहते हो कि इसके होने पर ज्ञान होता है और इसके न होने पर ज्ञान नहीं होता, तो इस विधि में आत्मा का भी तो नाम कभी-कभी ले लो, या इसे बिल्कुल ही छोड़ रहोगे? केवल इन्द्रिय-इन्द्रिय ही गावोगे या आत्मा का भी नाम लोगे? वहाँ भी तो यह ही बात हो रही है कि आत्मा के होने पर प्रमाण होता है और आत्मा के न होने पर प्रमाण नहीं होता। तब शङ्काकार कहता है कि आत्मा को हम प्रमाण यों नहीं मान सकते कि आत्मी तो है साधारण याने सब ही वस्तुओं के ज्ञान का आधार। तो सबका तो नहीं प्रमाण होता रहता, प्रमाण और ज्ञान कभी होता है कभी नहीं और अगर ज्ञान का और प्रमाण का साधकतम हो तो सारा ज्ञान हमेशा एक साथ रहना चाहिए, जब सारा ज्ञान हो गया तो प्रमाण रहा ही नहीं। तो यह आत्मा साधारण है इसलिए यह प्रमाता प्रमिति का साधकतम नहीं है, तो आचार्यदेव कहते हैं ऐसा ही साधारण तो सत्त्विकर्ष और इन्द्रिय आदि है जो सब पदार्थों के लिये तैयार रहता है। अगर सत्त्विकर्ष, इन्द्रिय व इन्द्रियशक्ति प्रमाण हो तो जैसे आत्मा में दोष देते वही दोष इसमें आता है। तो शंकाकार कहता है कि यह बात नहीं, इन्द्रिय और सत्त्विकर्ष और शक्ति तो कभी असाधारण भी बन जाती है याने कोई खास मौके की बात हो तो इन्द्रियशक्ति जानें, जहाँ मौका मिले, उसे असाधारण कहते हैं। तो उत्तर उसका भी यही है कि ऐसे ही आत्मा असाधारण बन जाता है। जब

योग्यता हो, साधन हो, उपयोग चले तो उसका ज्ञान होता है, नहीं तो कहीं होता, तो आत्मा प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण है, अचेतन प्रमाण नहीं होता, ये क्लूटपुट संघर्ष चल रहे हैं, ये लम्बे-चौड़े नहीं हैं, एक-एक बात के संघर्ष हैं। तो यह शंकाकार दार्शनिक कहता है कि हम कैसे जानें कि आत्मा में असाधारणता है याने दोष यह दिया जा रहा कि आत्मा यदि ज्ञान का कारण है, ज्ञान का साधकतम है तो आत्मा तो सदा रहता तो उससे तो प्रतिनियत अर्थ के ज्ञान का नियम तो नहीं बनता देखो जब आत्मा असाधारण बनता है तब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के योग की संपत्ति मिलती है और तब ज्ञान बनता है, ऐसा ही तो उत्तर दिया था आचार्य ने। तो शंकाकार कहता है कि आत्मा की असाधारणता का क्या अर्थ है? तो आचार्य कहते हैं कि तुम्हारे सन्निकर्ष की असाधारणता का क्या अर्थ है? शंकाकार कहता है कि विशिष्ट ज्ञान कार्य का हेतु बनना। ऐसे ही आचार्य कहते हैं यही आत्मा की बात है कि विशिष्ट ज्ञान का हेतु बनना। याने ज्ञान का मौका ही बनता है। तो शंकाकार कहता है कि आत्मा तो सदा रहता है, तब तो सब चीजों के ज्ञान का आत्मा साधारण हेतु रहा। वह असाधारण कैसे हो सकेगा? जब जब ज्ञान करें सभी का साधारण ज्ञान है आत्मा को, चाहे सुबह जान करे तो, दोपहर को ज्ञान करे तो। उसे असाधारण कैसे कहते? तो आचार्यदेव कहते हैं कि तुम्हारा सन्निकर्ष और इन्द्रियशक्ति भी सदा रहती है तो उसे तुम असाधारण कैसे कह दोगे? तो शंकाकार कहता है कि हम यों कहेंगे—सुनो, जिस समय, इन्द्रिय और सन्निकर्ष ज्ञान की उत्पत्ति में व्यापार कर रहे हो उस समय यह इन्द्रिय और सन्निकर्ष कारण है बाकी समय नहीं। तो कहते हैं कि यह ही बात हमारे आत्मा में भी कह लो कि जिस समय आत्मा किसी पदार्थ की जानकारी में उपयोग लगा रहा है उस समय ज्ञान का कारण है वह, उस ज्ञान का प्रमाण है वह और इस कारण प्रमाणता की व्यवस्था बन जायेगी।

आत्मा के कथंचित् अनित्यत्व के कारण अर्थज्ञान में उपयुक्तता के समय प्रतिनियम अर्थ के ज्ञान का प्रतिनियम—शंकाकार कहता है कि है जैन आचार्यों! तुम आत्मा की बात, अगर आत्मा की असाधारणता उपयुक्तता व अनुपयुक्तता के कारण रखोगे तो तुम्हारा आत्मा अनित्य बन जायेगा, याने जब उपयोग लगाया तो प्रमाण हुआ, तो जब उपयोग वाला दूसरा आत्मा उपयोग न करे तो अब यह आत्मा दूसरा, यों तुम्हारा आत्मा अनित्य बन जायेगा। तो आचार्यदेव कहते हैं कि तुम घबड़ाओ मत। आत्मा अनित्य बन जाने दो, सत्यता यही है कि आत्मा कथंचित् नित्य है कथंचित् अनित्य। यदि आत्मा सर्वथा नित्य हो तो उसमें अर्थ किया नहीं बन सकती। याने जो कूटस्थ अपरिणामी हो तो उसमें किया प्रसंग यह कुछ नहीं बन सकता। देखो जैसे कोई लोग एक ब्रह्म कूटस्थ नित्य अपरिणामी मानते हैं तो उसके मायने क्या? जैसे लुहार की दूकान में जब किसी लुहार को हंसिया खुरपा बगैरा कोई चीज बनाना तो वह उस लोहे को आग में गर्म करता है फिर उसे कूटकर बनाता है, तो उस समय उस लुहार को चार लोहे चाहिएँ एक तो निहाई चाहिए, दूसरा—हथौड़ा चाहिए, तीसरा—पकड़ने के लिए संडासी चाहिए और जो कुट रहा वह चाहिए। अब उन चारों लोहों में देखो तीन लोहा तो सांप की जीभ की तरह लपलप करके चलते रहते हैं—संडासी भी, हथौड़ा भी और जो पिट रहा वह भी, मगर वह निहाई, महाराज तो ज्यों के त्यों रहते हैं। तो कूटस्थ उसका नाम है, याने जैसे निहाई है बिना अदल-बदल वाली। ऐसे ही ब्रह्मस्वरूप में कुछ अदल-बदल नहीं है। इसे कहते हैं कूटस्थ अपरिणामी। अगर

कोई पदार्थ कूटस्थ अपरिणामी हो तो उसमें कोई काम नहीं बन सकता। अच्छा यह बतलाओ कि ज्ञान कौन करता? ब्रह्म, अरे वे कहते हैं कि नहीं, नहीं। ब्रह्म ज्ञान नहीं करता, किन्तु प्रकृति ज्ञान करती। अच्छा चलो प्रकृति करती, सुख दुःख कौन करता? ब्रह्म, तो वे कहते—ब्रह्म नहीं करता प्रकृति करती। अच्छा चलो प्रकृति ही सही और सुख दुःख को अनुभवता कौन हैं? तो उन्होंने कहा कि ज्ञान के द्वारा निश्चय की गई बात को यह चेतता है, सुख-दुःख को यह ब्रह्म चेतता है। चलो चेता सही, कभी सुख दुःख चेता, कभी नहीं चेता। तब ही तो अर्थक्रिया कहलायेगी। तो सर्वथा नित्य तो न रहा। सर्वथा नित्य मानने में अर्थ क्रिया सम्भव नहीं है, इस कारण आत्मा सर्वथा नित्य नहीं, अतएव दोष नहीं दे सकते हैं ज्ञान की प्रमाणता में ये सिद्धान्तवादी जो इन्द्रिय और सत्रिकर्ष और इन्द्रियशक्ति को प्रमाण मानते हैं।

क्षणिकवादी दार्शनिक द्वारा तदाकारता को प्रमाण मानने का प्रस्तुत प्रस्ताव—अब चलो आचार्य महाराज मानो बहुत बोल बोलकर थक गए होंगे, तो अब कुछ आराम करना है तो थोड़ा बौद्धों की बात छेड़कर आराम करेंगे, वे बौद्ध ही थोड़ा उनसे भिड़ ले। देखो बौद्धों, यह क्या कह रहे सत्रिकर्षवादी, ये कह रहे हैं कि ये इन्द्रियाँ पदार्थ के पास जाती हैं, इन्द्रियाँ पदार्थ से भिड़ती हैं तो ज्ञान होता है। तो बौद्ध कहते हैं—नहीं, सत्रिकर्षवादियों की बात गलत है। अब ये दोनों ही आ गए सामने। एक अलंकार में कह रहे, कोई सामने आये नहीं। यह सब आचार्यदेव ही प्रतिपादन का श्रम कर रहे हैं। बौद्ध कहते हैं कि इन्द्रियाँ पदार्थ के पास नहीं जातीं, किन्तु पदार्थ का आकार ज्ञान में आता है इस तरह प्रमाण बनता है। अब आप जान गये होंगे। यहाँ मूल में दो बातों का प्रसंग है—एक कहता है कि यह इन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय अर्थ के पास जाती है। वे इन्द्रिय ज्ञान? ही तो हैं, मतलब यह ही निकला कि ज्ञान अर्थ के पास जाकर बनता और बौद्ध कहते हैं कि अर्थ ज्ञान के पास आता है याने अर्थ का आकार ज्ञान में आता है तब ज्ञान होता है, बाहर खुद खिंचकर नहीं आता, किन्तु अर्थ का आकार आता है। और जैनसिद्धांत क्या कहता कि न तो ज्ञान अर्थ के पास जाता है और न अर्थ या अर्थ का आकार ज्ञान में आता है, किन्तु यह ज्ञान राजा अपने ही किले में सुरक्षित बैठा हुआ अपनी ही कला के द्वारा अपने आप जो सत् है उसको जान लेता है। तो अब यह बात रखी जा रही है क्षणिकवादियों की ओर से कि पदार्थ जब आकार सौंपता है ज्ञान को, ज्ञान में आकार प्रतिबिम्बित होता है तो ज्ञान जानता है, देखो भाई एक आदत तो बनाओ, अगर विद्वान हो तो विद्वान से प्रेम रखो, ये दार्शनिक, ये बौद्ध, ये वेदान्ती कुछ भी कहें मगर घृणा किसी से या किसी बात पर न करो। प्रीति रखो। वे दार्शनिक भी प्रेमपात्र है, घृणा के पात्र नहीं आखिर विद्वान ही तो हैं और देखो उनकी बात कुछ-कुछ समझ में भी आती होगी कि भाई ठीक ही तो कह रहे, लगता तो है ऐसा कि मेरे ज्ञान में आकार आ गया तब उस पदार्थ को जाना और जैनी तो ज्ञेयाकार शब्द भी बोला करते, हैं कि ज्ञान में ज्ञेयाकार आया। तो भाई कोई थोड़ीसी त्रुटि होती है और उस त्रुटि का जब विस्म्वाद बन जाता है तो वह एक पार्टी का (मत का) रूप रख लेता है। तुम जरा उस त्रुटि को ही देख लो मूल में कितनी त्रुटि है? पर उसका अर्थ यह नहीं है कि इस ज्ञेय का जो आकार है वह यहाँ आ जाता। अगर आ जाये तो इसमें आकार नहीं रहा और यह भी अर्थ नहीं है कि इसका फोटो आ जाता। ज्ञेयाकार का अर्थ है अर्थविकल्प याने अर्थग्रहण, पदार्थ के ज्ञानने की परिणति। और ज्ञानने की परिणति का नाम विकल्प है।

ज्ञान में अर्थाकारता न होकर अर्थग्रहणरूप विकल्प की वृत्ति—देखो एक बहुत बड़ी सावधानी बिना जैनशासन का बोध ही नहीं कर सकते। देखो विकल्प के तो अनेक अर्थ हैं। विकल्प मायने रागद्वेष। रागद्वेषमय होना और विकल्प मायने रंज मानना। जब कोई आता है ना किसी घर फेरे पर तो कहते हैं कि भाई तुम विकल्प न करो, मायने रंज न करो। यों विकल्प के कितने ही अर्थ लगाते हैं, और विकल्प मायने है अर्थग्रहण याने जानकारी। अब विकल्प नाम सुनकर सब विकल्पों को एक लाठी से हांकना तो बुद्धिमानी नहीं है। तुम निर्णय बनाओ कि इस विकल्प का क्या अर्थ है? बताते हैं ना कि ज्ञान तो सविकल्प होता है और दर्शन निर्विकल्प होता है और विकल्प का नाम सुनकर कोई यह अर्थ लगा दे कि देखो जैनियों ने भी तो कह दिया कि ज्ञान सविकल्प है, तो है ना रागद्वेष इसका स्वभाव। रागद्वेष इसमें से हट नहीं सकते क्योंकि ज्ञान सविकल्प है और विकल्प के मायने है रागद्वेष। तो यह बात ठीक नहीं। विकल्प का अर्थ समझें सविकल्प ज्ञान है, यहाँ विकल्प का मतलब रागद्वेष नहीं किन्तु पदार्थ की जानकारी। देखो जानकारी एक शुद्ध तरंग है। तरंग तो हुई ना? और यह स्वभाव है आत्मा का। आत्मा का स्वभाव जगमग है। जगमग जानते हो किसे कहते हैं? जैसे दीपक का स्वभाव क्या? जगमग। जगमग के मायने क्या? दीपक की रोशनी बढ़ गई, घट गई फिर बढ़ गई, फिर घट गई, यह काम दीपक में निरन्तर होता रहता है, बिजली के बल्ब में भी ऐसा ही होता। बहुत गौर करके देखो तो मालुम पड़ेगा जब अधिक जगमग हो तो स्पष्ट हो जाता कि इसमें जगमग हो रहा। तो ऐसे ही समझो कि आत्मा जगमग रूप है। ज्ञान तो है जग और आनन्द है मग। वैसे भी देख लो मोटे रूप से ज्ञान जब होता है तो कुछ अभिमुखता लेकर होता है, पर की अभिमुखता। शुद्ध ज्ञान हो तो भी अर्थ ग्रहण तो है, इतनी उठी बात तो है ज्ञान। ज्ञान का तो उठना स्वरूप है और आनन्द का भिचना स्वरूप है। कैसे? जैसे ज्ञान अभिमुख होकर अपना स्वरूप पाता है, ऐसे ही आनन्द पर के अभिमुख होकर अपना स्वरूप नहीं पाता, किन्तु अपने आप में मग्न होकर निस्तरंग होकर, गुप्त होकर, समरस होकर आनन्द पाता है। तो देखिये आत्मा निरन्तर जगमग रूप रहा याने ज्ञानानन्द रूप।

तदाकारता की प्रमाणता मानने के प्रस्ताव की मीमांसा का कुछ स्पष्टीकरण—अब मूल प्रकरण पर आइये—क्षणिकवादी यह कहते हैं कि ज्ञान यों नहीं बनता। ये पदार्थ अपना आकार सौंपते हैं, सो जिस पदार्थ ने इस आत्मा को, ज्ञान को आकार सौंपा तो यह ज्ञान उस पदार्थ को जानता है। उनका मंतव्य यह है कि अर्थ मुफ्त में ज्ञान नहीं खरीदता। क्षणिकवादी का कहना है कि ज्ञान अर्थ का आकार लिए बिना पदार्थ को जाने तो यह मुक्त खरीदने की तरह है, पैसा तो दे नहीं और चीज ले-ले ऐसा करे कोई तो मुक्त खरीदना कहते ना, तो ऐसे ही जैनियों के ज्ञान को पदार्थ ने आकार तो दिया नहीं और पदार्थ ने अपना ज्ञान करा लिया तो ऐसी बौद्ध लोग जैनियों पर आपत्ति दे रहे हैं। तुम तो मुफ्त खरीदने की आदत वाले हो गए और उसे बौद्ध लोग मुफ्त खरीदने की बात ही नहीं करते। हम पदार्थ का आकार पहले ज्ञान को सौंपवा देते हैं उसके बाद ज्ञान पदार्थ को जाने ऐसी व्यवस्था बनाते हैं। खैर इसका भी उत्तर दिया जायेगा। ये बौद्ध भी कही-कहीं मुक्त खरीददार बनते कि नहीं? यह बताया जायेगा, और अभी सुन लो थोड़ासा इनके यहाँ चार तरह के प्रत्यक्ष माने गए हैं—(१) इन्द्रियज प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष, (३) योगिप्रत्यक्ष और (४) स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष। देखिये सबकी फैक्टरी

अलग-अलग है। इन्द्रियज प्रत्यक्ष का काम क्या है कि इन्द्रिय से इन पदार्थों को जान लेवे, और समझ लेवे, और योगिप्रत्यक्ष का अर्थ क्या है कि तीन लोक तीन काल के सब पदार्थों को स्पष्ट जान लेवे और स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष का क्या अर्थ है कि ज्ञान अपने ही ज्ञान से पूर्व ज्ञान को समझ लेवे याने निरन्तर ज्ञान होते रहते हैं ना तो उत्तर ज्ञान पूर्व ज्ञान को अनुभव में ले लेवे, ज्ञान-ज्ञान के स्वरूप को अनुभव में लेवे इसे बोलते हैं स्वसम्बेदन। अब स्वसम्बेदन में देखो—यदि हमने इन्द्रिय से खम्भा को जाना तो यह बात बन गई कि खम्भे ने आकार मेरे ज्ञान को सौंप दिया तब हमने खम्भा को जाना। और स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष में क्या बतलायें कि ज्ञान में ज्ञान का आकार क्या सौंपा? ज्ञान में आकार ही नहीं और ज्ञान को ज्ञान ने ज्ञान लिया तो ये आये ना मुफ्त खरीदने। ज्ञान का आकार तो ज्ञान में आया नहीं और उस ज्ञान को ज्ञान लिया, तो ये एक संघर्ष के बचन हैं। तो क्षणिकवादियों का सिद्धान्त सत्रिकर्ष का इस तरह का है कि यह पदार्थ ज्ञान में आता है आकार के माध्यम से, और यों जब ज्ञान का और पदार्थ का यहाँ भिड़त होता है तब ज्ञान बनता है, और नैयायिक वैशेषिक क्या कह रहे थे कि ज्ञान पदार्थ के पास जाता, इन्द्रिय पदार्थ से चिपटती हैं वहाँ भिड़त होती है तब ज्ञान होता है। देखो भिड़त दोनों ने मान लिया, पर एक ने अर्थ के पास भिड़त माना और बौद्ध ने ज्ञान के पास भिड़त माना इसे बोलते हैं तदाकार, और तदाकार प्रमाण है, इस सम्बंध में युक्ति वे क्या देते? देखो यह निर्णय कैसे हो कि इसने खम्भा को जाना, और चौकी आदि को नेहीं जाना, अन्य पचासों चीजों को नहीं जाना। क्षणिकवादी कहते हैं कि यह निर्णय इस आधार पर बनता है कि चूंकि खम्भा ने अपना आकार सौंपा है ज्ञान की, इसलिए ज्ञान ने खम्भा को जाना और जैनी मानते नहीं खम्भे में आकार का सौंपना, तो तुम निश्चय क्या करोगे कि इसके ज्ञान ने खम्भा को जाना। यह युक्ति देखें। तो तदाकाररूप में होने वाला सत्रिकर्ष प्रमाण है और पदार्थ की भिड़त का सत्रिकर्ष नहीं ऐसी अब ये बौद्ध अपनी बात रख रहे हैं। देखो बात विशेष कठिन नहीं है, दो बातों का निर्णय हो रहा है। एक दार्शनिक तो यह कहता है कि इन्द्रिय पदार्थ से भिड़ा तो प्रमाण है और बौद्ध यह कहते कि पदार्थ इन्द्रिय से भिड़े मायने ज्ञान से भिड़े तो यह तदाकारता प्रमाण है, पदार्थ अपना आकार ज्ञान को सौंप दे तो ज्ञान जानता है, और जैनदर्शन क्या कहता है कि यह कवायत दोनों को नहीं करना है। न पदार्थ को ज्ञान में आने की जरूरत है और न ज्ञान को पदार्थ में जाने की जरूरत है। अर्थ चूंकि सत् है इसलिए प्रमेय बन जाता है, और ज्ञान चूंकि ज्ञायक है इसलिए जानने वाला बन जाता है। हाँ विषयभूत है इतना तो है, मगर कोई किसी के पास आ-आकर भिड़कर नहीं जानता। ज्ञान स्वतः प्रमाण है।

तदाकारता के प्रामाण्य में विसम्बाद होने से प्रमाणत्व की असिद्धि—यहाँ क्षणिकवादी दार्शनिक कह रहे हैं कि ज्ञान में जब पदार्थ का आकार प्रतिबिम्बित होता है तब ही ज्ञान पदार्थ को जानता है। यदि आकार आये बिना ज्ञान पदार्थ को जाने तो यह भेद करना फिर कठिन हो जायेगा कि यह ज्ञान खम्भे को जानता है व यह ज्ञान अमुक को जानता है। दुनियां में बहुत से पदार्थ हैं अटपट किसी भी पदार्थ को जानने को क्यों नहीं कह बैठते? उसका समाधान ही यह है कि जिस पदार्थ का आकार ज्ञान में आया, ज्ञान उसको जानता है। देखो इन सब प्रकरणों में यह समझते रहना कि यह बात किसकी ओर से कह रहे हैं। यद्यपि बीच-बीच में आपको हम बताते तो हैं, पर थोड़ा आप लोगों को भी चाहिए कि इस विधि से सुनें, इस जानकारी में रहे कि यह बात

किसकी ओर से कही जा रही है? क्षणिकवादी दार्शनिक कह रहे हैं—देखो ज्ञान का स्वामी आत्मा है, लेकिन ज्ञान पदार्थ का है। जैसे आपके घर में किसी बचे की तस्वीर टंगी हुई है, मान लो कोई बालक गुजर गया और उसकी तस्वीर आपके घर में टंगी है तो तस्वीर का मालिक कौन? व्यवहार से बताओ व्यवहार की बात। तस्वीर के मालिक आप हैं, मगर तस्वीर किसकी? बचे की। तो भले ही तस्वीर का मालिक है यह गृहस्थ, मगर तस्वीर गृहस्थ की नहीं। तस्वीर बचे की है। तो ऐसे ही ज्ञान का मालिक है आत्मा, मगर आत्मा का ज्ञान नहीं, किन्तु खम्भा का ज्ञान याने जिसका आकार पड़ा उसका ज्ञान है तो खम्भे का आकार ज्ञान में आया। जब हमने जाना कि यह खम्भा है—देखो कैसी युक्ति चल रही है—सुनते समय ऐसा लगता होगा कि बेचारे ठीक ही तो कह रहे हैं। उसमें दोष की कौनसी बात है? अच्छा तो अब दोष देखिये—कह यह रहे हैं कि पदार्थ अपना आकार सौंपते हैं, तो पदार्थ जाने जाते हैं, तो क्यों जी, एक ही साँचे के १०० कलश मानो रखे हुए हों आपके घर में तथा अन्यत्र ५०-६० घर में और हमने यहाँ रखे हुए कलश को जाना तो कैसे जाना कि उस कलश का आकार मेरे ज्ञान में आया, तो आकार आने से जाना ना? तो यही आकार सब कलशों का है जो १०० कलश अनेक घरों में रखे हैं, एक साँचे के सभी कलश हैं, ठीक यही आकार है उनका, दूसरा नहीं। तो आकार आने से कलश का ज्ञान होता तो १०० ही कलशों का ज्ञान क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि वही आकार है सभी कलशों का।

शंकाकार द्वारा प्रस्तुत तदुत्पत्ति में भी प्रमाणत्व का अभाव—देखिये—तदाकारता को प्रमाण मानने में दोष आता है ना? तो इस दोष का निवारण करने के लिए शंकाकार कहता है कि तदाकारता में प्रमाणता नहीं आती तो तदुत्पत्ति को प्रमाण मान लो याने आकार आये इससे प्रमाणता नहीं आती तो यों मान लो इस कलश से यह ज्ञान उत्पन्न होता, इसलिए यह ज्ञान इसी कलश को जानेगा और इसी आकार वाले जो १-१ कलश घर में रखे हैं उन्हें न जानेगा। तो ज्ञान करने में कारण हुआ तदुत्पत्ति। अच्छा पहले एक तो कथन फेल हो गया। अब जब तदाकार से न जीत सके याने आकार आने से पदार्थ का ज्ञान होता है तो एक साँचे की कई चीजें—मानो १० नया पैसा वाला सिक्का ले लो, तो हिन्दुस्तान भर में वे जितने हैं वे सब एक से ही तो हैं ना, एकसा ही उनका आकार है, अब यह आकार आया यहाँ, सो यदि आकार आने से ज्ञान बनता तो आकार तो सबका यही है तो सारे १० पैसों के सिक्कों का ज्ञान हमें क्यों नहीं होता? आंख से क्यों नहीं दिख रहे? तो इस विषय में वे यह कहते हैं कि तदाकार की बात तो हमारी फेल हो गई अब हम तदुत्पत्ति की बात रख रहे हैं। इस सिक्के से ज्ञान उत्पन्न हुआ है इस कारण इस ही सिक्के को जानेंगे और देशभर में पड़े हुए जो सिक्के हैं उनसे तो नहीं होता उसका ज्ञान पैदा, सो उन्हें नहीं जाना। क्षणिकवादी कह रहे हैं, यह तदुत्पत्ति प्रमाण है, तो इससे अब दोष देखिये जिससे ज्ञान उत्पन्न होता, ज्ञान उसको जानता है, यह ही प्रस्ताव रखा ना। तो देखो—देखना इन आंखों से उत्पन्न होता कि नहीं। देखने का ज्ञान इन आंखों से उत्पन्न होता कि नहीं और यह ज्ञान आँखों को देखता जानता नहीं तो तदुत्पत्ति तुम्हारी कहाँ सही रही? जिस पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता ज्ञान उसको जानता है, यह प्रस्ताव यहाँ अभी चल रहा है। तो ज्ञान तो इन्द्रिय से भी होता, पुण्य से भी होता, पाप से भी होता। अरे जहाँ विपत्ति आती हो, कोई पाप का उदय आये उस प्रकार की बुद्धि बनी, तो ज्ञान के

होने में अनेक कारण बन गए । मगर इसको तो ज्ञान नहीं जानता ।

इन्द्रियों की नमकहरामी—देखो इन्द्रियां तो ऐसी हैं ही जो न स्व को जानती न आत्मा को, ये हैं इन्द्रियाँ नमकहराम सिपाही । दो चीजें होती हैं ना—नमकहराम और नमकहलाल नमकहलाल नौकर तो वह है जो मालिक का ध्यान रखे और नमकहराम वह है जो मालिक की काट करे । तो ये इन्द्रियां ऐसी नमकहराम हैं कि ये अन्य बिरादरी कहो या शत्रु कहो या विरोधी कहो या बाह्य संग कहो, इनसे नाता जोड़ता है यह । ये इन्द्रियाँ सिपाही इन बाहर में पड़े हुए पदार्थों से नाता जोड़ती हैं । और ये आत्मा से नहीं जोड़ती हैं इन्द्रियाँ नाता । आत्मा का ज्ञान करने को नहीं चाहती ये इन्द्रियां । ये बाह्य विषयों का ज्ञान करने के लिए ही सुभट बनी हुई हैं । और आत्मा की भी बात क्या? ये बुद्ध को भी जानने में समर्थ नहीं । जैसे उदाहरण लो हमारा हाथ ठंडा है कि गरम आप अपनी ही बात सोच लो आप जब अपने हाथ को परखना चाहते हैं कि ठंडा है या गरम तो दूसरे हाथ से छूकर जानते हैं । अरे जब तुम्हारा ही खुद का हाथ है तो दूसरा हाथ न लगाओ और समझ जावो कि गर्म है या ठंडा । जैसे जब बुखार चढ़ा है तब आप एक हाथ से दूसरे हाथ की नाड़ी पकड़कर समझ जाते हैं कि बुखार कितना तेज चढ़ा है । अरे जब खुद में ही बुखार चढ़ा है तो जैसे के तैसे हाथ पैर फैलाये पड़े रहो और बुखार का ज्ञान कर लो । मगर कहाँ ज्ञान कर पाते । ये हाथ खुद अपना स्पर्श नहीं जान सकते । ये इन्द्रियाँ दूसरे का स्पर्श जानने के लिए पहलवानी करती, मगर खुद को नहीं जानती । यह चटोरी जीभ दुनिया भर के फलों के रसों का ज्ञान करने के लिए पहलवान बन रही है मगर रसना भी तो खुद पुद्गल है, खुद में से कुछ रस नहीं लेती और बाहर-बाहर का ही रस ले लेकर यह पहलवान बन रही है । ऐसे ही ग्राण का काम है कि बाहर-बाहर का ही गंध लेती मगर खुद का ज्ञान नहीं करती और आँखों का काम तो बिल्कुल स्पष्ट है । बाहर-बाहर की चीजें ही देखने में उनकी पहलवानी है, पर आँखें खुद को नहीं देख पाती । खुद को देखने के लिए सामने दर्पण रखते हैं ना तब जान पाते हैं कि काजल लगा है, यहाँ कुछ फंसी हो गई है । अच्छा यहाँ भी बतलाओ क्या दर्पण को देखकर आँख ने अपनी आंख को देख लिया? तब भी आंख आंख को नहीं देख पायी किन्तु इस आंख का निमित्त पाकर जो दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ा वह तो पर पदार्थ है, सामने है, अब भी उसको ही देख पाये,-तो उसको देखकर अनुमान से जाना जाता कि चूंकि हमारी आंख का ही यह प्रतिबिम्ब है और यहाँ यह फुंसी दिख रही है सो फुंसी इस आँख में भी है । तो ये इन्द्रियां सब नमकहराम हैं, हम आपको ये अच्छे नौकर नहीं मिले ।

शंकाकार द्वारा प्रस्तुत तदाकारता व तदुत्पत्ति के समूह में भी प्रमाणत्व की असिद्धि—यहाँ प्रसंग में यह बात चल रही है कि इन्द्रिय से ही तो ज्ञान उत्पन्न होता और वह ज्ञान इन्द्रिय को जान नहीं पाता । तो तुम्हारी यह दलील कि जिससे ज्ञान उत्पन्न होता ज्ञान उसको जानता, दृष्टि हो गई कि नहीं । कुछ संकोच तो जरूर आ जायेगा । तो अब विवश होकर भी यदि कहो कि सुनो, सुनो—दोनों ही तो प्रमाण है, तदाकार भी हो और तदुत्पत्ति भी हो । इन्द्रिय से ज्ञान तो उत्पन्न होता, मगर इस ज्ञान में इन्द्रिय का प्रतिबिम्ब तो नहीं पड़ा, इसलिए

इन्द्रिय को नहीं जान पाया और इन सामने के पदार्थों से ज्ञान उत्पन्न भी होता और इन पदार्थों का आकार भी आया इससे इस ज्ञान ने इन पदार्थों को जान लिया । अब यह बात रखें क्षणिकवादी तो इसमें भी दोष है सो सुनो । यहाँ शंकाकार यह बात रख रहा है कि ज्ञान उस पदार्थ को जानता है जिस पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता और जिस पदार्थ का आकार ज्ञान में बनता, अन्य को नहीं जानता । तो देखो हम को किसी पदार्थ का ज्ञान हुआ तो जिस समय पदार्थ का ज्ञान होता है उस समय पदार्थ का निश्चय नहीं होता । ऐसा यहाँ बौद्धदर्शन में है । इसे तो बोलते हैं निर्विकल्प प्रत्यक्ष, और उसके बाद फिर जो ज्ञान होता है वह पहले ज्ञान के विषय का निर्णय करता है कि इसने यह जाना । तो अब देखो हमारे ज्ञान में पहला ज्ञान जब रहा है तो पहले ज्ञान से दूसरा ज्ञान उत्पन्न हुआ और पहले ज्ञान में जो कुछ आया था वह सब आकार भी आ गया और फिर भी पूर्व ज्ञान का ज्ञान नहीं हो रहा । सो देखो तदुत्पत्ति और तदाकार दोनों होकर भी ज्ञान फेल हो गया ।

शंकाकार द्वारा प्रस्तुत तदाकारता, तदुत्पत्ति व तदध्यवसाय में प्रमाणत्व की असिद्धि—यदि कहो कि तदध्यवसाय और चाहिये । तीन हो जायें तो प्रमाण है । तो सुनो जैसे पहले ज्ञान से जिसे कामला रोग है उसने चीज़ को पीली देख लिया । चांदी का गिलास उसे पीला दिख गया और उस ज्ञान के बाद जो दूसरा ज्ञान हुआ । सो प्रथम ज्ञान से ही तो पैदा हुआ दूसरा ज्ञान । उस ज्ञान में पहला ज्ञान आ गया ना और पहले ज्ञान में जो फोटो आयी थी वह भी आ गई । एक दर्पण में जितनी फोटो आती है दूसरा दर्पण के सामने कर दें तो उसकी फोटो आ जायेगी ना दूसरे दर्पण में । हालांकि दूसरे दर्पण के सामने नहीं है वह पदार्थ जिसकी फोटो आ रही, मगर उन पदार्थों की फोटो है इस दर्पण में और यह दर्पण आ गया इस दर्पण में तो वे सब फोटो आ गए । तो जब उत्तर ज्ञान में पूर्व ज्ञान आ गया तो उसमें जो मिथ्या ज्ञान बसा था वह भी आ गया, फिर उत्तर ज्ञान क्यों नहीं उनका ज्ञान करता? मतलब यह है कि सीधी बात मान लो कि ज्ञान खुद प्रमाण है । ज्ञान में यह तारीफ है, कला है कि वह अपने आपको अपनी योग्यतानुसार, क्षयोपशम के अनुसार, लघ्वि के अनुसार उपयोग जोड़-जोड़कर जानता रहता है । न तो पदार्थ का आकार आने से जानता, न पदार्थ से उत्पन्न होने से जानता और न पदार्थ के अध्यवसाय से जानता, क्योंकि बौद्धों का अध्यवसाय तो अनन्तर समय में होता है तब यह निश्चित हो गया कि ज्ञान ही प्रमाण है । जो ९वें सूत्र में कहा जा रहा था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रमाण है उसी का ही यह समर्थन है कि ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नहीं है ।

सत्रिकर्ष की तरह सारूप्य में भी अर्थाधिगतिशून्यता—देखो सत्रिकर्षवादी कहते हैं कि जो कहा था कि इन्द्रिय और पदार्थ का भिड़ाव हो तो ज्ञान होता है तो ऐसा भिड़ाव बौद्धों ने भी मान लिया तो बौद्धों तुम भी बोल उठो कि सत्रिकर्ष प्रमाण है, बौद्ध कहते हैं कि हम तो न बोलेंगे । हम तो सारूप्य को प्रमाण कहेंगे, सत्रिकर्ष प्रमाण नहीं, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ का सत्रिकर्ष हो जाने पर भी ज्ञान नहीं होता । ऐसा व्यभिचार देखा जाता है तो सत्रिकर्ष प्रमाण नहीं है । तो उसका प्रत्युत्तर यह है कि हे बौद्धजनों तुम्हारा भी तदाकार तदुत्पत्ति प्रमाण नहीं, तदध्यवसाय भी प्रमाण नहीं, क्योंकि ये तीनों होकर भी ज्ञान नहीं होता देखो जैसे ज्ञान से जाना स्वलक्षण को । स्वलक्षण यह प्रमाण का विषय है, याने क्षणिकवाद में यह बताया गया है कि यह खम्भा आदि कोई

पदार्थ नहीं है यह झूठ है, जैसे कि स्वप्न में किसी को चीज दिखती है इसी तरह अज्ञान में यह चीज दिख रही है। यह सत्य नहीं है, खम्भा है, चौकी है, और और कुछ है तो यह सत्य नहीं है। तो सत्य क्या है? सत्य तो जिससे मिलकर बनता है खम्भा, वह है। हाँ-हाँ तो परमाणु तो सत्य हो गया। तो बौद्ध कहते कि परमाणु भी सत्य नहीं है, किन्तु जिससे मिलकर परमाणु बना है वह सत्य है—मायने रूप, रस, गंध, स्पर्श ये हैं सत्य। परमाणु तो झूठ है। होता है ना ऐसा कि भावुकता में आकर छलांग मारी जाती। परमाणु को भी असत्य कह बैठे। और क्या है सत्य? तो शङ्काकार का मंतव्य है कि केवल रूप है सत्य, केवल रस, केवल गंध, केवल स्पर्श है सत्य। ज्ञान होता है तो रूप का होता है, रस का होता है। देखो बेचारों का अधिक अपराध मत समझना। आपको भी ऐसा लग रहा होगा। परमाणु है कहाँ? सब कल्पना की बात है। रूप ही रूप है और तो है ही नहीं। आंख से यह ही तो दिख रहा है और जब जीभ से चखते तब कहते कि बस रस ही रस है दुनिया में और कुछ नहीं, और जब गंध लेते तो कहते कि बस गंध ही गंध है दुनिया में और जब स्पर्श करते तो कहते कि बस स्पर्श ही स्पर्श है दुनिया में अब रूप, रस, गंध, स्पर्श इकट्ठे हो जायें तो परमाणु बन गया। तो उनका पदार्थ है केवल रूप अणु, रस अणु, गंध अणु, स्पर्श अणु। जैसे ज्ञान होगा तो नील का ज्ञान, पीत का ज्ञान उसके साथ यह मत जोड़े कि नीले खम्भे का ज्ञान। खम्भा तो है ही नहीं, वहाँ तो नील है, पीत है, रस है आदि। यों बोलते हैं, वे हैं स्वलक्षण। सो देखो स्वलक्षण जाना तो उसमें तादात्म्य है क्षणिकत्व का, तो स्वलक्षण ज्ञान कर क्षणिकत्व का अध्यवसाय क्यों नहीं हो जाता तो सारूप्य भी व्यभिचारी है।

महर्षियों के प्रखर अवबोध का स्मरण—देखो एक होती है विद्वत्ता और एक होता है ज्ञान, तो विद्वत्ता तो अन्य दार्शनिकों में बहुत भरी हुई है और जैनदर्शन में यहाँ तो सीधी-सीधी बात कही। आप सोचेंगे—इसमें काहे की विद्वत्ता। विद्वत्ता तो उसे कहते हैं कि झूठ हो और सच साबित कर दे। ये जैनाचार्य बेचारे भोले-भाले जैसी बात है, जैसा स्वरूप है वैसा ही कह देते, इसमें काहे की विद्वत्ता? हाँ ज्ञान जरूर कह लो। जैनाचार्यों का ज्ञान जरूर है सही, पर विद्वत्ता तो इन अन्य दार्शनिकों में है, जिन्हें आप देख रहे हो कि कैसी युक्तियों से क्या मंतव्य सिद्ध किए जा रहे हैं। तो शायद आप यह सोच बैठे होंगे कि फिर जैनाचार्यों में क्या विद्वत्ता नहीं है? अच्छा तो एक बात देखो—ऐसी विद्वत्ता का बंटाझार जो करे उसमें विद्वत्ता मानी जायेगी कि नहीं? भैया, दार्शनिकों का विषय बड़ा गम्भीर है। सो यदि सत्त्विकर्ष को प्रमाण नहीं मानते तो बौद्धों के माने गए तदुत्पत्ति तदाकार तदध्यवसाय ये भी प्रमाण नहीं हो सकते।

तदध्यवसाय की अप्रमाणता को कारणभूत व्यभिचार का प्रदर्शन—देखो जब ज्ञान से जाना कि यह नील है, अभी देखो इस समय खम्भा वगैरा का नाम न लें, क्योंकि बौद्ध मानते नहीं खम्भा को, वे तो नीला, पीला, खट्टा, मीठा आदिक इन्हीं को ही पदार्थ मानते हैं, जिसे वे बोलते हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श अणु। तो इन अणुओं से ज्ञान होता है तो पूरा जानने में आ गया ना? अब उसमें क्षणिकत्व भी है। बौद्ध मानते हैं कि सर्व क्षणिक सत्त्वात्, सब चीजें क्षणिक हैं सत्त्व होने से। देखो जो लोग यह कहते हैं ना कि पर्याय स्वतंत्र है, पर्याय अहेतुक है। उसकी उत्पत्ति पूर्व पर्याय से नहीं। पूर्व पर्याय तो नष्ट हो गई, वह उत्तर पर्याय को कैसे पैदा

करे? यह सब दर्शन बौद्धों का है और यह बौद्धों का दर्शन ऋजुसूत्रनय से निकला है। जो जैनशासन में बताया है ऋजुसूत्रनय उसका विषय यह है कि पर्याय अहेतुक है, किसी हेतु से, उत्पन्न नहीं होता। अपने समय में अपने आप हो जाता है, यह, ऋजुसूत्रनय का विषय है। सो यों क्षणिकवाद में स्वलक्षण में क्षणिकत्व भी आ गया, उसका बोध करने को अनुमान बनाना पड़ता है, तदध्यवसाय नहीं हो पाता, अतः सारूप्य अप्रमाण है।

ऋजुसूत्रनय के विषय का प्रकृत उदाहरण—देखो क्षणिकत्व असत्य नहीं है, ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से सत्य है। मगर कोई उसको ही पकड़ कर रह जाये कि बस ऐसा ही है, तो असत्य बन गया। क्योंकि यह एकान्तवाद बन गया। बौद्धसिद्धान्त में पर्याय का कोई हेतु न होगा, क्योंकि वही एक पूर्णस्वतंत्र सत् है बौद्धसिद्धान्त में वही पूरा द्रव्य है। जब पूरा द्रव्य है और क्षणिक है और उसको संतान मानते नहीं तो अहेतुक विदित होगा ही। पूरा दर्शन कोई समझे तब छोटी बात समझ में आयेगी। जैसे कि बजाज लोग यह तो नहीं सोचते कि जो कपड़ा का कोई एक ही प्रकार का स्टाक रख लिया जाये, आजकल जो कपड़े चलते हैं उनमें से एक रख लो, सो तो गम नहीं खाते। वहाँ तो कई डिजाइन के कपड़े रखेंगे उस स्टाक को देखकर ही तो एक पसंद आता है तो जैसे वह एक विशाल बोध हो तो थोड़े बोध की स्पष्टता है। जो बड़े-बड़े लोग होते हैं और बच्चों को पढ़ाने के लिए मास्टर रखते हैं तो वे यह नहीं सोचते कि बच्चे को अ आ इ ई ही तो सिखाना है सो किसी अपने पड़ोस के अ आ इ ई जानने वाले साधारण पढ़े आदमी को रख दें, किन्तु वे तो विद्वान ही रखेंगे। उस विद्वान की कला और तरह की है। तो पर्याय अहेतुक है, स्वतंत्र हैं, उसका पूर्व पर्याय से सम्बंध नहीं, क्योंकि है ही नहीं उस समय में यह बताया ऋजुसूत्रनय ने। मगर ऋजुनय से ही जाना अन्य प्रतिपक्ष नय का करें विरोध तो द्रव्यार्थिकनय बन गया असत्य। जब किसी को समझ नहीं होती तो उसे कुछ ख्याल नहीं रहता कि हम क्या कर रहे हैं? पर्याय अहेतुक है, ऐसा एकांत करने को किसने असत्य बना दिया? द्रव्यार्थिकनय के विरोध ने। सो वह पुरुष कभी द्रव्यार्थिक नय पर जोर देता, और कहीं वही पुरुष द्रव्यार्थिकनय को असत्य सिद्ध करके पर्यायार्थिक नय को पसंद करे। तो जैसे कोई उन्मत्त पुरुष होता तो वह कभी माँ को स्त्री भी कहता कभी माँ को माँ भी कहता तो उसका माँ कहना भी सत्य नहीं। ऋजुसूत्रनय का विषय हमने एक परिच्छेद में लिखा है अध्यात्मसहस्री में। इसका भी ऐसा अभेद है कि जैसा अभेद शुद्धनय या परमशुद्धनिश्चयनय का है। देखो भेद को बताने वाले दो नय हैं—एक तो परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनय, संग्रहनय और एक है ऋजुसूत्रनय। अखण्डता दो तरह से होती है—एक तो बहुत बड़ा हो तो अखण्ड और एक ऐसा खण्ड करें, ऐसे टुकड़े करें कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके तब वह भी तो अखण्ड कहलाया। अखण्ड दो तरह से हुआ करता है। एक तो विशाल अखण्ड और एक इतना छोटा अखण्ड खण्ड कि जिसका दूसरा खण्ड न हो सके तो उसे भी अखण्ड कहेंगे कि नहीं? तो ऋजुसूत्रनय तो ऐसे अखण्ड को कहते हैं कि जो इतना सूक्ष्म खंड हो कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके। ऐसा खण्ड क्या है? एक समय की पर्याय? अब उसमें तुम और क्या भेद डालोगे? आगे जो भेद चलेंगे सो पदार्थ की वजह से न चलेंगे, शब्द नयों की वजह से चलेंगे तब ही ऋजुसूत्रनय के बाद और जो सूक्ष्म खण्ड करने वाले नय हैं वे शब्द के आधार पर हैं। शब्दनय, समभिरुद्धनय और एवंभूतनय। तो ऋजुसूत्रनय या एवंभूतनय की ही बात कोई सत्य मानकर रह जाये तो देखो किसी के हो रुई की दूकान और

वह इस दर्शन के नाम पर सत्य का ढकोसला लेकर बैठ गया कि हम तो सच ही लेकर बैठेंगे और मानो वह है बौद्ध । अब रुई में लग गई आग तो अब वह बेचारा बैठा है । अगर बुलाये किसी दूसरे को तो क्या कहकर बुलाये कि दौड़ो बुझावो, रुई जल रही है । वह तो यह सोचकर बैठा है कि हमें तो सच बोलना है । कैसे कहें कि रुई जल रही है? क्योंकि जो रुई है वह जल नहीं रही और जो जल रही है वह अब रुई नहीं रही, तो कैसे कह दें? तो उसकी तो दूकान ही साफ हो जायेगी । यह है ऋजुसूत्रनय का एकान्त ।

प्रतिपक्षनय का विरोध होनेपर विवक्षितनय की भी असत्यता—भाई भोजन कई प्रकार का है । मिठाई खाने का भी स्वाद ले लो, मना नहीं है, पर थोड़ा नमकीन का भी तो स्वाद ले लो । वहाँ तो ऐसा करते हैं और यहाँ वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में ऐसा नहीं चाहते हैं । अभी ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से बोलो तो कह दो कि पर्याय अहेतुक है । पर्याय अपने आप होती है । कोई दोष नहीं है । जैनशासन कहता है, मिथ्या कोई बात नहीं है, मगर उसी की हठ न पकड़ो, थोड़ा द्रव्यार्थिकनय से भी कह दो कि पर्याय का उपादान कारण पूर्व पर्याय से संयुक्त द्रव्य है । और यह न मानेंगे तो वह भी बिल्कुल सिद्ध न होगा । जैनशासन सापेक्ष है, स्याद्वाद गर्भित है, अन्यथा याने स्याद्वाद को छोड़ दे और अब कुछ भी वर्णन करें तो वहाँ विदित हो जायेगा कि यह बौद्ध दर्शन का हिस्सा है, यह ब्रह्मवाद का हिस्सा है, यह विशेषवाद का हिस्सा है व यह सत्कार्यवाद का हिस्सा है और जिन्हें अन्य दर्शन का पता नहीं वे इस मिथ्यादर्शन में लुभा जाते हैं और यह नहीं जान पाते कि हम स्याद्वादी नाम धराकर भी क्या बोल रहे हैं? तो यह बहुत एक गहन विषय है, नयचक्र बहुत गहरा है ना, और उसमें बड़ी सावधानी की जरूरत है, नहीं तो याने स्याद्वाद का आलम्बन छोड़ने पर सारा कथन सत्य होकर भी असत्य कहलाता । किसकी बात असत्य है बोलो? पर्याय अहेतुक है, क्या यह बात झूठ है? झूठ तो नहीं है, मगर द्रव्यार्थिकनय का विरोध है सो झूठ है । अच्छा स्वभाव अपरिणामी है, ध्रुव है, निस्तरंग है और शुद्ध है, यह बात सत्य है कि नहीं? सत्य है, मगर पर्यायदृष्टि का विरोध करेंगे तो असत्य हो गया । सत्य होकर भी यह असत्य होता है, इस बात को स्याद्वाद समझाता कि सत्य सत्य ही रह सके, असत्य न बन जाये, इसकी कला स्याद्वाद में मिलती है ।

तदध्यवसाय में भी प्रमाणत्व का अनियम—ज्ञान किस तरह जानता है, इसके विवेचन में दार्शनिकों का संघर्ष हो रहा है । जैनदर्शन तो कहता है कि ज्ञान चूंकि अपने को जानने का स्वभाव रखता ही है सो जो सत् है उसके बारे में स्वयं यह ज्ञान करता रहता है । हाँ जब ज्ञान का आवरण पड़ा है तो जितने-जितने आवरण का विगमविशेष है उतना ज्ञान पाता है । तो इस समय कुछ लोगों ने यह कहा था कि इन्द्रियाँ पदार्थों के पास जाती हैं भिड़ने के लिए तब ज्ञान होता है तो बौद्ध जन यह कह रहे हैं कि पदार्थ ही स्वयं अपना आकार ज्ञान में सौंप देता है तब ज्ञान होता है तो इस विषय में चर्चा चलने के बाद वे यहाँ तक आये कि केवल आकार सौंप दे, इतने से ज्ञान नहीं, किन्तु जिस पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता उस पदार्थ को जानता, और इतना भी नहीं, किन्तु जिसका वह बाद में निश्चय करता है उसका ज्ञान होता है । तो तदाकारता, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय—ये तीन बातें हों तो ज्ञान जानता है और प्रमाण होता है । इसमें कुछ आपत्तियाँ बतायी गई थीं । अब एक अन्तिम आपत्ति स्पष्ट सुनो—इनका यह कहना है कि जिसका अध्यवसाय हो, विकल्प हो, उसके बारे

में उसका ज्ञान, होता है, तो सुनो एक है स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष । चार प्रकार के प्रत्यक्ष हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसिकप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष । स्वसम्बेदन मायने क्या है कि यह ज्ञान अपने आपका प्रत्यक्ष कर रहा है । ज्ञान स्वयं का अनुभव करता है । तो यहाँ ज्ञान जब ज्ञान का अनुभव करता है तो जिस ज्ञान ने जाना और जिस ज्ञानस्वरूप को जाना उस ज्ञानस्वरूप ने अपना आकार तो दिया नहीं, क्योंकि ज्ञान ज्ञान को आकार क्या दे? ज्ञान में आकार रखा ही नहीं है । बाह्य पदार्थ ही नहीं है । तो आकार दिए बिना जान लिया गया पहला ज्ञान स्वसम्बेदन में तो वह तो तदध्यवसाय का नियम न रहा, इसीलिए बात सीधी मानो कि ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर अपनी योग्यता माफिक जहाँ उपयोग लगे उस पदार्थ का ज्ञान होता है । और भी देखो—ज्ञान ने अपने आपको आकार लिए बिना जान लिया तो जब अपने आपको बिना आकार लिए जान लिया, तो इन सारे पदार्थों को बिना आकार लिए ज्ञान जान जाये, इसमें कोई आपत्ति नहीं है ।

ज्ञान द्वारा स्वनिर्णय बिना अर्थनिर्णय की असंभवता—ज्ञान जानता है, स्वयं जानता है, अपने आपके द्वारा जानता है, उस जानने में विषय सत् पदार्थ होते हैं । जो है सो जाना जाता है और वह प्रमाण माना जाता है । देखो जब जानते हैं तो वहाँ दो का जानना चलता है, स्व का और जिस पदार्थ को जाना उसका । दो के जाने बिना ज्ञान कहलाता ही नहीं है । जैसे कहते ना कि पहले घर में संगठन हो तो फिर बाहर में संगठन बनाने की बात सोचें । अब अपने घर में तो चल रही हो आपस में बहुत लड़ाई और समाज में करें संगठन का उपदेश तो बताओ उसका कुछ असर भी होता क्या? घर में तो फूट हो और समाज में करे नेतृत्व का दावा तो उसका असर नहीं हो सकता । हर बात में आप यही बात समझते जाइये । हम खुद तो कषायवान बने हैं और दे शान्ति का उपदेश तो क्या वह ठीक बैठेगा? हम, खुद तो अशुद्ध हैं और समझें पर्याय के ढंग से कि हम तो शुद्ध हैं तो कोई तुक मिलेगी क्या? अरे यहाँ शुद्धता का अर्थ यह है कि हमारा स्वभाव शुद्ध है, स्वभाव विकृत नहीं, होता । जैसे पानी गर्म होने पर भी पानी का स्वभाव गर्म नहीं है, ऐसे ही आत्मा, कषायवान होकर भी आत्मा का स्वभाव कषाय वाला नहीं है, हाँ, स्वभाव की शुद्धता है और इसी शुद्ध स्वभाव की दृष्टि के प्रताप से कषायें दूर होती हैं । तो ज्ञान में भी यह ही प्रक्रिया है कि ज्ञान स्व का निर्णय रखता है । तब ज्ञान में जो जाना गया उसका भी निर्णय पड़ा हुआ है । तो दो बातें आर्यों ना— स्वसम्बेदन और अर्थसम्बेदन । स्व का भी ज्ञान और अर्थ का भी ज्ञान ।

ज्ञानवृत्ति के विषय में दार्शनिकों के सप्रतिपक्ष विचार—अब देखो कितने ही दार्शनिक ऐसे हैं कि कहते हैं कि पदार्थ का तो ज्ञान होता है, मगर स्व का ज्ञान नहीं होता । तो कितने ही दार्शनिक ऐसे हैं कि जो यह कहते हैं कि स्व का तो ज्ञान होता है, पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, तो देखो इसी बात को जैनशासन में यों कहा कि व्यवहारनय से पर का ज्ञान और निश्चयनय से स्व का ज्ञान । व्यवहारनय असत्य नहीं होता, किन्तु उपचार वाला व्यवहार हो तो असत्य होता है । बाह्य पदार्थ के बारे में हमको जानकारी हुई, यह बात असत्य नहीं । यह ही तो व्यवहार कहलाता है । मगर यह है ज्ञान उस बाह्य पदार्थ का है, ऐसा कहना असत्य है, क्योंकि उपचार हो गया । ज्ञान बाह्यपदार्थ में जाकर जानता हो जाननरूप परिणमाता हो यह असत्य हो गया, क्योंकि इसमें एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता कह । दिया । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता है यह उपचार कथन है

और यह मिथ्या है, मगर अर्थ को विषयभूत मात्र निमित्त पाकर इसमें यह परिणाम बन गया यह मिथ्या नहीं। यह व्यवहारनय है। होता ही है ऐसा। तो दो बातें आती हैं ज्ञान में—(१) स्व का वेदन और पदार्थ का वेदन। तो यहाँ शंकाकार यह बतला रहे हैं कि पदार्थ का वेदन तो आकार आने से प्रमाणभूत है, और स्व का वेदन? तो इसके बारे में शंकाकार कहता है कि स्व के ज्ञान का स्वरूप में प्रमाणत्व ही नहीं है। प्रमाणता तो बाहरी पदार्थ की है और यही दुनिया का निर्णय करती है। फिर दुनिया को चूंकि पदार्थों में निर्णय करना है। इसलिए पदार्थों की ओर से बात कही। परन्तु यह बात अनुभव बाधित है।

कषाय के वेग की विडम्बना—देखो कितने ही हठी लोग ऐसे होते हैं कि दिल तो जान रहा है कि सच्ची बात यह है और चूंकि कह आयी बात, इसलिए मिथ्या पर हठ है। ऐसे आपको अनेक उदाहरण मिलेंगे। घर में मिलेंगे, समाज में मिलेंगे और दार्शनिकों में मिलेंगे। चित्त तो जान रहा है कि सच तो यह है, पर क्या करें? हम इस कुल में पैदा हुए तो इसकी बात हमें समर्थित करना है अथवा हम इस पक्ष में, इस पार्टी में दाखिल हुए तो इसकी बात समर्थित करना है। घर में मान लो स्त्री पुरुष में लड़ाई हो गई। अब वहाँ यद्यपि जान रहे हैं कि इसमें हमारा कसूर है मगर कुछ शान तो रखना है, पोजीशन रखनी है ना घर में तो अब कभी ठंडे न बोलेंगे, दूसरे का अपराध बतायेंगे। इसने ऐसा किया। तो ये सब कषायों के रंग हैं, नहीं तो यदि सब लोग ऐसी ईमानदारी बर्ते कि जो भीतर में समझ रखा हो, वैसा ही हम बर्ते याने जो भीतर में समझ रखा हो वैसा ही हम बोलेंगे तो एक भी झगड़ा नहीं है और विपत्ति तो यह है कि समझ तो रहे हैं सही पर बोलने में चूंकि व्यवहार है ना और यहाँ समझ रखा है संसार। तो वहाँ मिथ्या बोल आया तो मिथ्या बात की हठ करेंगे।

दुर्लभ मानवजीवन में आत्मसावधानी का मूल्याङ्कन—प्रायः दो हजार सागर में त्रस पर्याय रहती है, इससे अधिक नहीं रहती त्रस पर्याय और उस त्रस पर्याय में बहुत कम भव मनुष्य के मिलते हैं। आज दुर्लभता से यह मनुष्यभव मिला और इस मनुष्यभव में ही कुछ पुराने भवों की गलती दुहराते रहे, जो पूर्वभव में गलती करते आये। क्रोध करना, घमंड करना, मायाचार रखना, लोभ रखना, ममता रखना, अज्ञान रखना और यह ही बात इस भव में कर ली तो यह दुनिया क्या है? १९७॥। लाख कुल कोटि देह वाले अनन्त जीव, इतने प्रकार के जीव पाये जाते हैं, इनमें जन्ममरण होगा, अगर इस मनुष्यभव में अपना सुधार न किया। यहाँ तो मर रहे थोड़े से पैसों पर, और मान लो यहाँ से मरकर बन गए कीड़ा मकौड़ा या कुत्ता, बिल्ली, सूकर आदि तो फिर कहाँ यह शान रह पायेगी? अरे भगवान जिनेन्द्रदेव की भक्ति हो तो जिनेन्द्र देव का जो सत्य मार्ग है उस पर दृष्टि दें, अन्यथा यदि जीवन को बरबाद कर दिया तो सहारा कोई किसी का नहीं है, दुःख ही भोगेगा। जब यह जीव नरक में जन्म लेता है और उसे कुछ ज्ञान होना है, ज्ञान तो अवधिज्ञान सभी नारकियों के है, जो मिथ्यादृष्टि है उसके कुअवधिज्ञान और जो सम्यग्दृष्टि है उसके अवधिज्ञान। तो वहाँ ज्ञानी नारकी सोचता है कि हाय जिनके लिए हमने इतना अन्याय किया वे यहाँ कुछ भी हमारा साथ नहीं दे रहे। हमको अकेले ही सब दुःख भोगने पड़ रहे हैं। अगर स्याद्वाद से सम्मत रखा तत्त्व ज्ञान और मंदकषाय का रखा व्यवहार तो जीवन सफल ही समझिये।

ज्ञान की चर्चा के प्रसंग में शंकाकार द्वारा संवेदन की स्वरूप में अप्रमाणत्व का प्रस्ताव—यहाँ चर्चा की जा

रही है ज्ञान की । हम आप सब ज्ञानमय हैं । तो ज्ञान की ही यहाँ चर्चा चल रही है । ज्ञान स्व को जानना और अर्थ को जानता, और यह ज्ञान स्व के जानने में तो प्रमाण ही रहता है, प्रत्यक्ष ही रहता है, स्पष्ट है । चाहे पदार्थ की जानकारी स्पष्ट न हो, मगर ज्ञान को ज्ञान के जानने की जानकारी तो स्पष्ट ही रहती, किन्तु यहाँ शंकाकार कहता है कि स्वसम्बेदन स्वरूप में प्रमाण नहीं है, वह तो उपचार से प्रमाण है व्यवहार से प्रमाण है, और देखो—शंकाकार ही कह रहा है कि शास्त्र कोई प्रमाण की चीज थोड़े ही है । शास्त्रों का तो इतना प्रयोजन है कि मोह हट जाये । इससे आगे और कुछ मतलब नहीं । (समझना शंकाकार की बात है) और यों कभी-कभी कोई उपन्यास पढ़ो तो उसमें भी ऐसी कोई किरण जगती है कि मोह दूर हो जाता है, कुछ देर को तो दूर हो ही जाता है । जब उपन्यास में चर्चायें आती हैं कि वह तो उससे इतना प्रेम करता था, पर उसने उसको प्राणघातक धोखा दिया । तो जब पढ़ रहे यह बात तो उस समय दिल कहता कि कुछ सार नहीं सब धोखेबाज हैं । तो लो उस उपन्यास के अध्ययन के द्वारा भी मोह हट गया कुछ देर के लिए तो ऐसे ही शास्त्रों को भी उपन्यास जैसा समझ लो, क्योंकि उनका काम मोह हटाना है । ऐसे ही इस स्व के जानने में कोई प्रमाणता नहीं है । देखो—कैसे-कैसे मंतव्य उठा करते हैं तत्त्व के निर्णय में।

स्वसंवेदन में स्वरूपप्रमाणत्व व आगम का प्रमाणत्व—अब वहाँ शास्त्र की प्रमाणता अगर देखें तो चूंकि ये सब आगम अरहंत देव के मूल दिव्यध्वनि की परम्परा से चले आये हैं, इसलिए ये तो पक्षे ही प्रमाण है, पर हम आपकी, बुद्धि यह सर्वथा प्रमाण नहीं है । अभी कुछ दिन बाद एक विषय बहुत उत्तम निकलेगा कि जितने भी ज्ञान हम आपको होते हैं, इनमें से कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं जो पूरा प्रमाण हो या पूरा अप्रमाण हो । यह विषय चलेगा बड़ी स्पष्टता से तब आँखें खुलेगी कि हम न कुछ पाये हुए ज्ञान पर गर्व करते हैं, और उसमें दम क्या? यहाँ प्रकरण यह है कि क्षणिकवादी दार्शनिक यह कह रहे हैं कि स्वसम्बेदन में अपने आपकी समझ के लिए प्रमाणता की जरूरत नहीं होती । वह तो उपचार से प्रमाण है । तो पहली बात तो यह ही देखें कि यदि यह उपचार से है तो कोई मुख्य नहीं हो सकता है । और सभी के सभी यदि उपचार से हो जायें तो सुख का अभाव हो गया, फिर तो कोई व्यवस्था न बनी ।

प्रमाण के अपलाप की अशक्यता—शंकाकार दार्शनिक यह बतला रहे हैं कि देखो प्रमाण कोई एक चीज नहीं है । कहीं अक्षरों को प्रमाण मानते, कहीं गवाह को प्रमाण मान बैठते, तो कहीं कंजा को प्रमाण मान बैठते । तो प्रमाण का कोई आधार ही नहीं है । जिसके मन में जो आया सो मान लेता है । तो प्रमाण कोई चीज ही नहीं । किसका सूत्र लगाये फिर रहे—‘तत्प्रमाणे’ जब कोई प्रमाण मुख्य तत्त्व ही नहीं, तो चर्चा किसकी? चीज रहे तो चर्चा करो, ऐसी एक आपत्ति दार्शनिक दे रहे । मगर उत्तर स्पष्ट है कि अपने-अपने अंदर में किसको ज्ञान नहीं है और किसको ज्ञान का बोध नहीं है? सब ज्ञानी है, सबको सही बोध होता है, सब समझते हैं, पर कषाय साथ में ऐसी लगी है कि जैसी समझ बनी है वैसी कहने में डरते हैं । देखो सब जगह बात है ऐसी । घर में देखो जो बहुत लड़ता है, समझते हैं सब सास-बहू की लड़ाई, देवरानी-जेठानी की लड़ाई, क्या समझते नहीं हैं सब बातें? किसका अपराध है, यह समझते हैं, पर कषायें ऐसी लगी हैं सही बात को आले में रख देते हैं । ये कषायें इस जीव को बरबाद करने वाली हैं । यदि अपने आपका उद्धार चाहिए तो कषाय विष को दूर

कर दो तो यह ज्ञान आपको सन्मार्ग की ओर ले जायेगा । अब यह कषायसहित होने से कृत्रिम कथन पुष्ट बन गया । जैसे कोई दुष्ट घोड़े पर सवार हो तो वह तो खोटी जगह में ले जायेगा, पर यदि उसकी लगाम लगा दी जाये तो उसको लगाम के उपाय से सन्मार्ग में लाया जा सकता है इसी प्रकार ज्ञान तो हमारे पास है, पर इन कषायों का विष हटा दें तो इस ज्ञान को सन्मार्ग में लाया जा सकता है ।

संवेदन के पूर्व में स्व और अर्थ दोनों को उड़ाकर संवेदनाद्वैत का भागने का प्रयास—यहाँ यह चर्चा चल रही है कि ज्ञान जो जानता है सो वहाँ दो बातें समझ में आती हैं—एक तो ज्ञान खुद अपने को जान रहा, दूसरी बात पदार्थ को जान रहा है, ये दो बातें सबके अन्दर होती हैं ना? सबको अनुभव है । तो यहाँ दो बातें हुई—स्वसम्वेदन और अर्थसम्वेदन । संवेदन के मायने ज्ञान । इस प्रकरण में सम्वेदन शब्द आये तो उसका अर्थ ज्ञान समझना । तो ज्ञान के सम्बन्ध में दो बातें होती हैं ना? स्वसम्वेदन और अर्थसम्वेदन अर्थात् ज्ञान खुद को भी जान रहा है और पदार्थ को भी जान रहा है । तो अभी तक तो कुछ यह संघर्ष चल रहा था कि कोई दार्शनिक तो यह कहता है कि ज्ञान या इन्द्रियाँ अर्थ के पास जाती है, तब कोई यह कह रहा था कि अर्थ या अर्थ का आकार ज्ञान में आता तब अर्थ जाना जाता । अब तीसरी बात कह रहे हैं कि न तो ज्ञान स्व को जानता है और न ज्ञान पर को जानता है, किन्तु ज्ञान ज्ञान ही रहता है, इसे कहते हैं सम्वेदनाद्वैत । ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत ये सब इसी तरह के कुछ फर्क ले ले करके दर्शन हैं । ज्ञान, बस ज्ञान हो रहा, जानन है, किसका जानन है? तो न ज्ञान का जानना है, न पदार्थ का जानना है । ऐसा सम्वेदन अद्वैत मान लें तो सारे झगड़े मिट जायेंगे । शंकाकार कह रहा—ऐसा मौन लेने पर न तो आकार का झगड़ा रहा और न इन्द्रिय पदार्थ के पास जाये इसका झगड़ा रहा और न प्रमाण अप्रमाण का झगड़ा रहा । न कोई प्रमाण है, न कोई अप्रमाण है, बस एक सम्वेदन मात्र है । ज्ञान ही ज्ञान है, जानन ही जानन है । देखो लग रहा होगा ऐसा कि यह दार्शनिक क्या कह रहा है कि कुछ है ही नहीं और न किसी का जानना बन रहा । केवल जानन ही जानन तत्त्व है ।

संवेदनाद्वैत की ओर विशेष बढ़ जाने का संभावित प्रथम आधार—अच्छा देखो सब दार्शनिकों को अपना मित्र समझो । किसी को बैरी विरोधी या घृणास्पद समझकर उसकी चर्चा न करो तो अपने में कुछ मिलेगा । अपने को तो तत्त्व मिलने से मतलब है । देखो उसकी बुद्धि किस ओर गई थी या किसी ने कुछ कोई तथ्य की बात सुन रखी थी, जिस पर कि यह सम्वेदनाद्वैत का आग्रह करके रह गया । अच्छा आप अपने स्वानुभव की स्थिति तो बतलाओ । स्वानुभव में किसी परपदार्थ का ख्याल है क्या? नहीं है । तो स्वानुभव में खुद का भी ख्याल है क्या? नहीं है । देखो अगर ज्ञान में खुद आत्मा का ख्याल रहे तो वहाँ अन्तर रहता है, भेद रहता है, निर्विकल्प स्वानुभूति नहीं कहलाती । इस तथ्य को तो दूसरे ज्ञानी लोग बता रहे हैं । निर्विकल्प स्वानुभव करने वाले की स्थिति के विषय में वह खुद इस विकल्प में नहीं है । तो ऐसा जब एक निर्विकल्प स्वानुभव होता है उस स्थिति का वर्णन हो रहा होगा । आचार्य महाराज इस स्वानुभव की स्थिति को बड़ी एक निर्विकल्प पद्धति से कह रहे होंगे । तो किन्हीं सुनने वालों के चित्त में आया कि हाँ बात तो यह ही है । यह ही सार है । तो इसमें इतना बढ़ गये कि इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं है । अरे जब स्वानुभव में हैं तो वहाँ के लिए यह ही बात है, मगर जब विकल्प में आ गए, घर-गृहस्थी में हैं, व्यवहार में हैं, यहाँ-वहाँ की बात सुन रहे और यहाँ

इस सम्वेदनाद्वैत की रटन लगावें तो यह असत्य हो जायेगा।

वस्तुस्वरूप के विषय में सत्य व असत्य के न्याय की कुञ्जी—भैया ! एक ही कुञ्जी है सबके न्याय की । चाहे जैन दार्शनिक हो, चाहे जैन में और कोई कुछ उत्पन्न हो गया हो, सबके न्याय की एक ही कुञ्जी है । जो तुम कहते हो सो सत्य है उसे हम झूठ नहीं कहते, पर साथ जो प्रतिपक्षनय है उसका जो विषय है, उसे यदि तुम नहीं मानते तो तुम्हारी बात झूठ है और प्रतिपक्षनय का विषय भी मानते हो तो उसे कहते रहो सच है । एक ही कुञ्जी है, सब पर घटा लो । जैनों पर मतभेद करने वालों पर तो घटता ही है, पर अर्जन दार्शनिकों पर भी घटा लो । देखो जब मनुष्य है, विद्वान् हैं, ज्ञानवान् हैं, बड़ा ऊँचा बोध पाये हैं, अनुभव पाये हैं, तो किसी की कुछ भी जानी हुई बात सर्वथा असत्य तो हो नहीं सकती । वस्तुस्वरूप के सम्बन्ध की बात, मजहब की बात नहीं कह रहे । मुसलमानी मजहब में तो कहते हैं कि खुदा के नाम पर बकरा मारो, मेड़ा मारो आदि तो ये क्रियायें असत्य हैं, पर वहाँ भी मूल तथ्य देखो । कैसा, सो सुनो—जब किसी समय उनके पैगम्बरों ने कहा कि देखो जिसको तुम सबसे प्यारा मानते हो उसकी बलि कर दो, कुर्बानी कर दो । तो जरा बताओ तो सही—तुम्हें सबमें प्यारा क्या लगता? किसी ने कहा ज्ञान । तो ठीक है, ज्ञान तो ज्ञानियों को प्यारा है, पर अज्ञानियों को कह रहे कि उन्हें सबसे प्यारा क्या लगता? कोई कहेगा कि हमें तो सबसे प्यारा लड़का लगता, कोई कुछ बतायेगा, कोई कुछ, पर ये कुछ प्यारे नहीं होते, क्योंकि अपने प्राणों पर कभी नौबत आ जाये तो फिर उन पुत्रादिक प्रिय चीजों की भी उपेक्षा करके अपने प्राणों की रक्षा करेंगे । तो अज्ञानियों को सर्वाधिक प्रिय है कषाय । खूब अनुभव करके भी देख लो, इन कषायों के पीछे तो लोग अपनी आत्महत्या तक कर डालते हैं । तो सबसे अधिक प्यारी हुई कषाय । तो पैगम्बर ने यह कहा कि तुम कषायों को बलि कर दो और भूखों ने क्या समझा कि देखो हमारे पैगम्बर साहब कह रहे हैं कि जो सबसे प्यारा हो उसकी बलि कर दो । तो हमें तो सबसे प्यारा लड़का है उसकी बलि कर दे । तो मजहब में भी अगर कोई बहुत घुसकर एक जड़ पकड़े तो जिसने चलाया होगा उसने मूल में कोई न, कोई सार बात कही होगी । दर्शन में और वस्तुस्वरूप में तो बिल्कुल स्पष्ट है ।

संवेदनाद्वैत के तथ्य की मीमांसा—यहां सम्वेदनाद्वैतवादी कहते हैं-- देखो दो बातें मान रहे हो तुम—अर्थसम्वेदन और स्वसम्वेदन । तो देखो भाई—तुम अर्थसम्वेदन में से तो अर्थ निकाल दो और स्वसम्वेदन में से स्व निकाल दो तो क्या रह जायेगा? संवेदन । अपना केवल एक संवेदन ही तत्त्व है । न वह स्व को जानता, न पदार्थ को जानता, न प्रमाण है, न अप्रमाण । सब झगड़ा मिट गया, आराम से बैठो । देखो भैया ! मिथ्या उपदेश की बात बड़ी जल्दी सुहा जाती है, क्योंकि उसमें कुछ कठिनाई नहीं । भोगों की भी छुट्टी और कुछ ज्ञान और दिमाग लगाने की भी जरूरत नहीं । तो यह सिर्फ संवेदनाद्वैत भी सुहा गया होगा । ये कहते कि जिन्दगी खूब मौज से बिताओ । किसी बाहरी पदार्थसत्ता भी नहीं । बस सम्वेदन सम्वेदन, जो न खुद को जानता न पर को, लेकिन इस पर विचार करो तो यह तत्त्व सिद्ध ही नहीं है । इसके सम्बन्ध में थोड़ा पहले बताया था और अब थोड़ी ही बात सुनो । अच्छा बताओ सम्वेदनाद्वैतवादी, तुम जो कह रहे हो वह सत्य है कि असत्य? अगर कहो

कि सत्य है तो सिद्ध हो गया कि तुम्हारी बात प्रमाण है । प्रमाण तो मान लिया । अभी तो प्रमाण को भी इन्कार करते थे कि प्रमाण नाम की कोई चीज नहीं और अगर कहो कि हमारी बात झूठ है तो तुम्हारी बात अप्रमाण है । अप्रमाण बन गया अर्थात् सम्वेदनाद्वैत न रहा ।

खरविषाणवत् शून्य संवेदनाद्वैतवाद की अप्रयोजकता और असिद्धि—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि हमारा तो यह सिद्धान्त है कि वह न तो सत्य है, न असत्य है, न प्रमाण है, न अप्रमाण, न स्व को जानता, न पर को जानता । सर्वविकल्पों से अतीत है वह सम्वेदन, देखो ऐसा सम्वेदन ऐसा अनुभव विकल्प से अतीत तो जैनशासन में भी कहा, प्रमाणनय निष्केप से अतीत है, भेदरहित है, तरंग नहीं है । समाधान में सोचिये—कहा तो है, मगर इसी पर डट कर नहीं रह सकते । बताया है कि भाई वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, स्वभावदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है । जैसे कोई इस खम्भे को देख रहा है कि यह खम्भा सामने से आधा भाग तो दिख रहा, मगर आधा नहीं दिख रहा, आधे से अधिक तो दिख जाता है ना? अब कोई यह कहे कि यह तो इतना ही है, यह खम्भा ऐसा है तो यह बात सच है कि झूठ है? तो सच, मगर पीछे के भाग को कहा झूठ तो यहाँ का देखना भी झूठ । एक हाथ है यह, तो इसमें एक तरफ तो गदेली है, देखिये और उसके दूसरी तरफ बाल हैं । अब कोई गदेला वाले भाग को देखे और उसे तो कहे कि यह है तो, यह तो सच कहा, मगर रोम वाले भाग को कहे कि नहीं है तो उसकी गदेली वाली भी बात झूठ रही । तो यह एक कुङ्गी है जैनशासन का निर्णय निकालने की । यहाँ हथेली का दृष्टान्त देने पर एक कथा याद आ गई कि एक सभा भरी हुई थी । उसमें बादशाह अकबर और उसका मंत्री बीरबल—ये दोनों भी वहाँ बैठे हुए थे । वहाँ अकबर बादशाह ने पूछा बताओ बीरबल हमारी गदेली में रोम क्यों नहीं हैं? तो बीरबल बोला—महाराज आपने अपने हाथ से इतना अधिक दान दिया कि दान देते-देते । सारे रोम घिस गए । अच्छा यह तो ठीक कहा, पर यह बताओ कि तुम्हारी गदेली में रोम क्यों नहीं हैं? महाराज आपने दान दिया, हमने दान लिया तो दान लेते-लेते हमारी गदेली के रोम घिस गए । अच्छा और जो ये सभा में सभी लोग बैठे हैं उनको गदेली में रोम क्यों नहीं हैं? महाराज आपने दान दिया, हमने दान लिया और ये सब सभा के लोग यों ही हाथ मलते रह गए इस करण हाथ मलते-मलते इनकी गदेली में से रोम झङ्ग गये हैं । तो देखिये यहाँ स्याद्वाद की बात कह रहे हैं । ऐसा स्पष्ट सिद्धान्त है और अपने चित्त को, अपने ज्ञान को इतना उञ्जल बना लें कि कहीं कोई शङ्का ही न रहे, और आपके सब मित्र बन जायेंगे, आपकी निगाह में कोई विरोध रहेगा ही नहीं । और देखो जो जैसा कहता है और प्रतिपक्षनय को असत्य कहकर उतनी हठ में रहता है तो हमें तो विरोध नहीं, पर वे खुद अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारते हैं तो उनका ही तो बिगाड़ है, हमारा आपका बिगाड़ तो नहीं । हम आप तो स्याद्वाद विधि से सब तत्त्वों का ज्ञान करके सबके साथ मित्रता बनाये हुए हैं । हमारे तो बौद्ध भी मित्र हैं, वैशेषिक भी मित्र हैं । तत्त्व के बारे में निर्णय करने को चले तो देखो उनका अन्तः आशय उनकी बुद्धि गई तो इस ओर कि मोह मिटाना है, संसार से छुटकारा पाना है । सबका ध्यान यह ही तो था, लेकिन अब थोड़ीसी मार्ग की गलती हो गई, सच बोलकर भी झूठे हो गए । तो समझो स्याद्वाद की कितनी बड़ी देन है? जीवन को शान्त बना दे, निराकुल बना दे और स्पष्ट बना दे । सो विधि तो तत्त्वज्ञान की यह है ।

मत्तता का बीज मतान्धता—शंकाकार यहाँ यह कह रहा कि हम तो ऐसा सम्वेदन मानते कि जो न सत्य है, न असत्य; न प्रमाण है, न अप्रमाण; न स्व को जानता। न पर को, तो फिर उत्तर यह है कि इसकी बुद्धि ठीक बनाने के लिये किसी चिकित्सालय में भेजना चाहिये। वरना जहाँ कोई युक्ति नहीं, जहाँ अनुभाव भी काम नहीं देता और अपना मनमान तत्त्व बन रहा हो तो उससे सिद्धि क्या बनेगी? भला अनवस्थित तत्त्व से क्या कोई सिद्धि हो सकती? यों तो हम कह देंगे कि गधे के सींग भी होते। तो गधे के सींग से और तुम्हारे अनवस्थित तत्त्व में क्या विशेषता रही? केवल एक मान रहे सम्वेदनमात्र, ज्ञानमात्र, न उसका आधार ब्रह्म रहा, न उसकी तरंग रही, न उसका कार्य रहा। देखो—अद्वैतवाद अनेक होते हैं। ब्रह्मद्वैतवाद का तो तीसरा, चौथा नम्बर समझिये याने ब्रह्मवाद संवेदनाद्वैतवाद से विशुद्ध अद्वैतवाद नहीं है जितना विशुद्ध अद्वैतवाद प्रतिभासाद्वैत है, यह हुआ सम्वेदनाद्वैत, प्रतिभासाद्वैत जिसमें कुछ ज्ञान ही नहीं है, और नाम धर दिया ज्ञान का। उसके बाद जब कुछ ठिकाने आये तो चलो ज्ञानाद्वैत चेतना तो माना, मगर ज्ञानमात्र है, और कुछ नहीं है। तो तब यह आशंका होती कि वह प्रतिभास, वह ज्ञान उसका कुछ आधार तो होगा, तो आयेगा ब्रह्माद्वैत उनके भी नाना बन गए सम्वेदनाद्वैतवादी। एक ज्ञानमात्र तत्त्व है, जिसका न कोई काम है न किसी को जानता है, न पर को जानता है, किन्तु ज्ञान नाम का ज्ञान है ऐसा अवस्थित तत्त्व तो खरविषण जैसी बात हो, गई याने असत् और इसमें कोई फर्क नहीं। तो शंकाकार कहता है कि कैसे नहीं फर्क है? एक यह संवेदनाद्वैत ज्ञानाद्वैत यह प्रकाशमान है, प्रतिभासस्वरूप है। अच्छा प्रतिभासस्वरूप है तो क्या वास्तव में है? अगर कहो कि हाँ वास्तव में है तो प्रमाण बन गया, तो तुम प्रमाण को मना कैसे करते? और कहो कि नहीं है तो खतम हो गया।

शुद्ध सम्वेदन की अलौकिक अनुभूति होने पर भी अर्थावबोधात्मकता—देखो चारों तरफ के ख्याल छोड़कर, अपने देह का भी भान छोड़कर, अपने भीतर में जो ज्ञानस्वरूप जाग रहा है उस ज्ञानस्वरूप में जो अनेक बातें समझ में आती हैं उन्हें भी भूलकर एक ऐसे तत्त्व पर जाइये जहाँ केवल प्रतिभास प्रतिभास ही रहे और देखो ऐसी स्थिति बन तो जाती है कि केवल प्रतिभासमात्र हो, मगर वहाँ भी आनन्द आता कि नहीं आता। विलक्षण आनन्द, अलौकिक आनन्द न हो तो फिर ज्ञान बिल्कुल आ ही नहीं सकता। वहाँ ज्ञान चमक रहा है, भीतर में जग रहा है जिस ज्ञान का यह स्वाद लेता है, पर यह सम्वेदनावाद तो सबको ही मना करता है एक तरफ से, कोई नास्तिक नाम न धर दे, इसलिए नाम रख दिया सम्वेदनाद्वैत। यदि यह संवेदन संवेदन का आकार लिये बिना संविदित हो जाता है तब क्या बात सिद्ध हुई कि देखो जैसे तुम्हारा सम्वेदन, यह ज्ञान इसमें कोई आकार तो न आया, खुद का भी आकार न आया, मायने ज्ञान में ज्ञान का आकार न आया और फिर भी ज्ञान ने ज्ञान को ज्ञान लिया। तो इन सब पदार्थों में भी यह ही बात लगा लें कि ये सारे पदार्थ बिना आकार सौंपे, ये ज्ञान में आते जावें। तब सिद्धांत निकल आये कि ज्ञान है और उसका जानना काम है और वह काम ऐसा ही है कि इसमें अर्थ विकल्प है और यह खुद को समझता है व अन्य को जानता है। रत्न है जैसे, वह तो स्वयं चमकदार है, प्रकाशमान है। ज्ञान है स्वयं प्रकाशमान, वह तो जानता ही रहेगा, उसका जानना कौन मेटेगा? इसका नाम आत्मा रखा गया है। आत्मा का अर्थ क्या है? जो निरन्तर जानता रहे उसको कहते हैं आत्मा। “अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा।” आत्मा अत् धातु से बना है। अनादि से लेकर

अनन्तकाल तक, निगोद से लेकर सिद्ध भगवान तक जो-जो भी दशा बनती हैं कहीं भी बतलावों यह आत्मा जाने बिना रहा क्या? निगोद में था तो जानता था, यहाँ है तो जानता है। सिद्ध हो गया तो जानता है। तो यह तो एक चमकदार रत्न है, तुम रुमाल में छिपा लो तो वहाँ भी प्रकाशित है, सामने धर दो तो वहाँ भी प्रकाशित है। बैट्री जला दो, अब उसके ऊपर काठ रख दो तो भी वह अपने में प्रकाशित है, आवरण हटा दो तो वह प्रकाशित है। ज्ञान तो सतत जाननहार है। देखो अपना सर्वस्व धन यह ही है, इसके अतिरिक्त अपना और कोई धन नहीं। जरासी जिन्दगी में इन बाहरी पदार्थों को धन मान-मानकर यह जीवन पाप में बिताया जा रहा है तो क्या सिद्धि मिलेगी? काम नहीं चलता गृहस्थी में। तो समझ लो कि यह गुजारे का स्थान है पर यह मेरा कुछ है नहीं। मेरा धन तो मात्र ज्ञानस्वरूप है तो इस प्रकार यहाँ तक यह बात सिद्ध की जा रही है कि सम्वेदन पदार्थ का आकार लिए बिना जानता है। जैसे कि संवेदन अपने आपके ज्ञान का आकार लिए बिना जानता है।

ज्ञानाकारता के समर्पण की मान्यता से भी सारूप्य में प्रमाणत्व की सिद्धि का अनवसर—उक्त समाधान चुनकर शंकाकार कहता है कि हम तो इसको भी निराकार न कहेंगे। ज्ञान जब ज्ञान को जानता है तो ज्ञान में ज्ञान का आकार आ जाता है और फिर उस ज्ञानाकार का जो ग्रहण है वह उसका फल है, तो कहते हैं कि इसमें तो अनवस्था है, मायने इस ज्ञान ने पूर्व ज्ञान का आकार लेकर पूर्व ज्ञान को जाना तो यह ज्ञान दूसरे ज्ञान को अपना आकार सौंप देगा तब जानने में आयेगा। वह दूसरा ज्ञान किसी तीसरे ज्ञान को अपना आकार सौंप दे तब जानने में आयेगा। तो ऐसा अनवस्था दोष हो जायेगा। तो ज्ञानाकारता के समर्पण से सारूप्य का प्रमाणत्व सिद्ध न हुआ। यह ही बात प्रमाणित है कि ज्ञान जानता है, अपनों को जानता है, पदार्थ को जानता है, बिना आकार लिए जानता है। अब रही व्यवस्था की बात। जैसे कि तुम यहाँ कहते कि नियम कैसे बने? हमारे इस ज्ञान ने खम्भा को जाना और दूसरे को नहीं जाना। तो देखो इसका नियामक है लब्धि और उपयोग। जिन-जिन पदार्थों के ज्ञानावरण का क्षयोपशम है वह है लब्धि और जिस पदार्थ के जानने के लिए हम उपयोग जुटाते हैं वह है उपयोग। तो लब्धि और उपयोग यह नियम बना देते हैं कि इस ज्ञान ने इस ही पदार्थ को जाना, अन्य को नहीं जाना, यहाँ तक यह बात सिद्ध हुई। अब आगे का प्रकरण प्रमाणता व अप्रमाणता के आधार का आयेगा और बहुत स्पष्ट होगा। हम आपका ज्ञान कोई सर्वथा प्रमाणभूत है क्या? यह बात बतायी जायेगी कि केवलज्ञान होने से पहले बढ़िया से भी बढ़िया ज्ञान हो तो भी उसमें कोई न कोई अंश अप्रमाण रहता है। प्रमाण में तो एक केवलज्ञान है सर्वथा। इस बात का वर्णन दार्शनिक विधि से युक्तियों द्वारा न्यायशास्त्र के अनुसार चलेगा।

प्रमाणत्व व अप्रमाणत्व की व्यवस्था का आधार—तत्त्व निर्णय करने का उपाय है प्रमाण और नय। तो क्यों जी, तत्त्वनिर्णय करने के उपाय की अगर हम अधिक समझ बना लें तो यह काम की बात है या गैर काम की बात है? जिन उपायों से हम तत्त्व की परीक्षा करेंगे उन उपायों को हमने भली-भाँति न समझा तो परीक्षा में गलती होगी। अगर वस्तु का निर्णय सुपरीक्षित बनाना है तो जानने के उपायों के बारे में भी अधिकाधिक बोध होना चाहिए। तत्त्वज्ञान के उपाय हैं—प्रमाण और नय। प्रमाण का क्या है? ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि जो हित

की प्राप्ति कराये और अहित से हटा दे—इन दोनों कामों में जो समर्थ हो वह ही मेरे को प्रमाण है। बोलो हित की प्राप्ति कौन करायेगा? ज्ञान, और अहित से कौन हटायेगा? ज्ञान। इस ज्ञान प्रमाण के बारे में प्रकरण चल रहा है। यह ज्ञान है ५ विशेषोंरूप—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। यह प्रकरण सम्यक् का है, सम्यग्ज्ञान का है। इसलिए पाँचों के पाँचों ज्ञान ही सम्यक् हैं, यहाँ यह परखना है। मगर ये ५ भेद हुए ना! तो जब सब प्रमाण हैं तो ये ५ भेद क्यों किए? प्रमाण तो सब एक किस्म के होने चाहियें थे। तो यह भेद ही यह बतलाता है कि ज्ञान अपने-अपने नियत बात में प्रमाण है, सब बातों में प्रमाण नहीं है, सिर्फ केवलज्ञान ही सर्वथा प्रमाण है पूर्णरूप से और शेष चार ज्ञान हैं वे अपने विषय में प्रमाण हैं और अन्य विषय में प्रमाण नहीं हैं। अच्छा तो प्रमाण का फिर लक्षण क्या हुआ? अब देखो ये ज्ञान प्रमाणरूप भी हो गए और अप्रमाणरूप भी हो गए। जैसे आम के रस को चखा, स्वाद आया, तो स्वाद के लिए तो हमारा ज्ञान प्रमाण बन पाया, पर रूप के लिए वह प्रमाण नहीं बन सकता। अंधेरे में आम खा रहे, स्वाद मीठा आया तो रस का तो ज्ञान बन गया प्रमाण, मगर रूप का ज्ञान? अंदाज तो बन गया कि ऐसा कुछ पीलासा है, मगर उसका प्रमाणभूत ज्ञान नहीं है। तो केवलज्ञान से पहले के ज्ञान नीचे के ज्ञान सर्वथा प्रमाणभूत नहीं हो पाते, तब फिर प्रमाण की व्यवस्था क्या है? जिस जिस विषय में अविसम्बाद है, विवाद नहीं है उस-उस विषय में प्रमाण है।

स्वभावदृष्टि व पर्यायदृष्टि के निर्णय का उपयोग—देखो अपनी उन्नति के लिए कई प्रकार के रंग लाने पड़ते हैं। स्वभावदृष्टि से देखें तो मैं परिपूर्ण हूँ, स्वतःसिद्ध हूँ, यह ध्यान में आया और जब पर्यायदृष्टि से दिखाना देखा तो यह मन में आया, ओह केवलज्ञान से पहले तो ये कुछ नहीं हैं, सब अधूरापन है। होता क्या है कि किसी कार्य में उमंग होती है तो कार्य में प्रगति होती है। तो कुछ तो हो प्रशंसा करने वाले और कुछ हो निंदा करने वाले तब प्रगति बढ़िया बनती है। अगर सब प्रशंसक ही प्रशंसक हों तो प्रगति नहीं बन पाती और निन्दक ही निन्दक हों तो भी प्रगति नहीं बन पाती। तो ऐसे अपने आपके आत्मा का हम विकास करते हैं। तो देखो स्वभावदृष्टि में तो हमें प्रशंसा मिली, हमने अपनी परमार्थ प्रशंसा कर ली, हम दूसरे की बात नहीं कर रहे, स्वभावदृष्टि करके हमने अपने उपयोग में अपनी प्रशंसा पायी। बहुत ठीक, यहाँ कष्ट है ही नहीं, घबड़ाने की बात नहीं, यह तो एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है। और जब उपयोग को देखा तो निन्दा की बात आयी। अरे कषाय बसी है, वासना बसी है चित्त डोल जाता है, यहाँ वहाँ लग जाता है। तो उस निन्दा से भी हमको उमंग आयी कि इससे तो हटना चाहिए और उस प्रशंसा से भी हमको उमंग आयी कि इसमें बढ़ना चाहिए। यह स्थिति चल रही है हम आपकी तो अब यहाँ देखिये—प्रमाण की क्या व्यवस्था है? जहाँ जहां विसम्बाद नहीं उसको प्रमाण कहते हैं और जहाँ विसम्बाद हो उसे अप्रमाण कहते हैं।

अनेक दर्पणों में या अनेक पात्रस्थ जलों में अनेक चन्द्रबिम्बरूप पर्यायों की चन्द्रपदार्थ से भिन्नता—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि यदि सच्चा ज्ञान ही प्रमाण है तो हमें यह बतलावों कि जैसे पूर्णमासी की रात को, जिसमें बहुत बढ़िया चन्द्रमा प्रकट हो, कार्तिक अगहन के दिनों में जहाँ निर्मल आकाश रहता है और रात्रि के समय में आप ५० थाली रख दे पानी भरी हुई या ५० दर्पण रख दें तो आपको ५० जगह चंद्रमा दिखेगा। इस थाली

में भी मिलता है, उस थाली में भी, उन सब दर्पणों में भी। तो ये ५० चन्द्रमा जो दिखे, सो यह तो बात झूठ हो गई ना? चन्द्रमा तो एक है, ये ५० चन्द्रमा कैसे दिख गए? कहाँ गया तुम्हारा सम्यग्ज्ञान? तो आचार्यदेव जवाब देते हैं कि सुनो—सम्यग्ज्ञान यहाँ भी है। जो उन ५० थालियों में चन्द्र दिखे, वे तो हैं अलग, वे ५० चन्द्र हैं पान की छाया पर्यायरूप। और जो आकाश में चन्द्रमा है वह है एक। वहाँ अगर ५० चन्द्रमा दिखे तो झूठ और यहाँ अगर एक चन्द्रमा दिखे तो झूठ। यहाँ जो ५० थालियों में ५० चन्द्रबिम्ब हैं तो ये उस चन्द्र से अलग हैं, आकाश में रहने वाले चन्द्रमा से पृथक् चौज है यह। हां, निमित्तनैमित्तिक भाव है ऐसा कि उसका सात्रिध्य पाकर ये ५० थालियों के पानी चन्द्रबिम्बरूप परिणाम गए। तो निमित्तनैमित्तिक योग तो है, मगर ये ५० तो ५० थाली पानी के ही परिणमन हैं, और वह एक चन्द्रमा है। इसमें कोई विसम्बाद नहीं है। देखो—इसमें भी अनेक दार्शनिक कुछ से कुछ मानते हैं। कोई तो मानते हैं कि चन्द्र का ही उसमें प्रतिबिम्ब पड़ा और कोई यह मानते कि इस तरह प्रतिबिम्ब पड़ता कि चन्द्र से प्रतिबिम्ब निकल पड़ा और फिर वापिस होकर चन्द्र में पहुंचता है, ऐसी सतत दौड़ लेते रहते हैं तब वह प्रतिबिम्ब दिखता है। देखो ये दार्शनिक हैं, ये इंजीनियर कहलाते हैं, डाक्ट्रेट हैं, अपने-अपने विषय के इंजीनियर हैं, वैज्ञानिक हैं।

दर्पणबिम्ब के उदाहरण में अनेक तथ्यों का प्रकाश—अभी दर्पण में ही देखो तो प्रतिबिम्ब को बोलते हैं रिपलेक्शन याने आकार गया और छूकर लौटता है, निवृत्त होता है तब ही तो यह पहिचान में बात आ जाती है उस दर्पण को देखकर कि यह चौज कितनी दूर रखी है। देखो बड़ा कठिन काम है यह। दर्पण सामने रखें और पीछे रहने वाली जितनी चीजें हैं उन सबमें प्रतिबिम्ब आ गया। अब दर्पण में प्रतिबिम्ब आ गया। दर्पण की ही पर्याय है वह जो दर्पण में आ गया। अब यहाँ देखकर यह निर्णय तो नहीं बन सकता कि यह चौज इतनी दूर रखी, यह चौज इतनी दूर रखी, मगर बन जाता है। दर्पण में आप देखकर बता सकते यह लड़का अब इतनी दूर खड़ा हो गया, यह लड़का इतना पास आ गया। बड़ी सूक्ष्म निगाह से परखेंगे तो विदित हो जायेगा, इसी को बोलते हैं रिपलेक्शन। और का आधार। हमने तो पूरब में मुख किया और दर्पण में पश्चिम को मुख मिला, इतना तो वहाँ साफ नजर आता है। गया और लौटा—इसे कहते हैं दर्पण में हटाने का स्वभाव पड़ा है तब उसमें प्रतिबिम्ब आता है और अगर लेने का स्वभाव पड़ा हो तो कैमरा बन जायेगा। उसमें हटाने का स्वभाव नहीं पड़ा है। तो यहाँ एक अपने लिए यह शिक्षा लें कि फोटो तो दोनों में पड़ती है, कैमरा के प्लेट में भी फोटो पड़ती हैं और दर्पण में भी, पर कैमरे में फोटो तो ऐसी पड़ती है कि कैमरा में प्लेट में या रील में जमकर रह जाती है और दर्पण में ऐसी पड़ती है कि वह जमकर रह नहीं सकती। वह हट जायेगी, ऊपर-ऊपर लौटेगी। तो इसमें ये सारी चीजें ज्ञान में आ रही हैं, तो हम दर्पण बनें, कैमरा न बने। यहाँ आयें तो तेरे ऊपर। यहाँ मेरा कुछ नहीं। मन को नियंत्रित करें। कितनी ही प्रिय स्त्री हो, पुत्र हो, धन हो, लोग हों, मगर अन्दर में अंधकार न बसाओ, मोह न आये। ये मेरे ही हैं इस तरह की ज्ञान की तरंग न बने, नहीं तो इस अंधेरे में प्रभु के दर्शन नहीं हो सकते। तो मानो ५० दर्पण रखे हों नीचे तो वहाँ भी ५० चन्द्र फोटो आ जायेंगे, मगर वे फोटो चन्द्र के नहीं हैं। चन्द्रमा का सत्रिधान पाकर वह फोटो आया है, वह फोटो उस दर्पण की है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में अपनी परिणति नहीं बना सकता। तो देखो वह प्रतिबिम्ब बना दर्पण में, पर

बना चन्द्र का सन्निधान निमित्त पाकर, यह भी साफ दिख रहा। और यह भी साफ नजर आ रहा कि चन्द्रमा का उसमें न द्रव्य है, न गुण है, न प्रभाव है। तो निमित्त बिना प्रतिबिम्ब होता नहीं, निमित्त ने प्रतिबिम्ब किया नहीं। तो वहाँ जो प्रतिबिम्ब हुआ तो वे सब उन-उनकी पर्यायें हैं। तो उतना जानना सम्यग्ज्ञान है, ऊपर चन्द्र को एक जाना सम्यग्ज्ञान। और देखो इसमें आगम से कोई बाधा नहीं आती। इसमें सिद्धांत का कोई विरोध नहीं है। यहाँ इतने प्रतिबिम्ब पड़े हैं वहाँ वह एक चन्द्र है, जैसा है वैसा ही प्रतीति में आ रहा है।

सबका अपने आपमें अपनी-अपनी परिणति से परिणमन—क्यों जी, कोई किसी के घर फेरे आयें, कोई गुजर जाये तो फेरे आते हैं ना, तो वह रिश्तेदार घर में आकर बहुत बुरी तरह से रोता है और घर के लोग भी रोते हैं तो बतलावो रिश्तेदार ने घर वालों को दुःखी किया क्या या रिश्तेदार ने घर वालों को सुखी किया? तो क्या उन दोनों में एक ही दुःख है? दोनों दुःखी हैं, और इसने उसे दुःखी नहीं किया, उसने इसे दुःखी नहीं किया, पर उसके दुख की कल्पना करके यह अपना नया दुःख पैदा कर रहा है। वह उसके दुःख की कल्पना करके अपने में नया दुःख पैदा कर रहा है। अपने-अपने दुःख से सब दुःखी हो रहे हैं। कोई कहे कि हम तुम्हारे दुःख में दुःखी रहते हैं और तुम्हारे सुख में सुखी रहते हैं तो उसे वहाँ यही जवाब दो कि तुम बिल्कुल झूठ कहते हो, ऐसा न तो कभी हुआ और न हो सकेगा। कभी इतना भी दुःख हो जाता कि मानो एक भाई गुजर गया तो दूसरा भाई भी एक ही मिनट बाद में गुजर जाता है, इतना अधिक दुःख उस भाई को हो गया, मगर वह दुःख क्या उस भाई से आया? अरे इसने अपनी कल्पना बनायी, मोह बनाया, ममता बढ़ायी और अपने से ऐसी अपने में कल्पना गढ़ाई कि सहन न कर सका और गुजर जाता है। देवों ने लक्ष्मण के प्रेम की प्रशंसा की थी, जब स्वर्ग में इन्द्र सभा में यह चर्चा उठी कि राम लक्ष्मण के समान भाई-भाई का प्रेम किसी भाई में नहीं पाया जा सकता। तो वहाँ दो देवों ने सोचा कि जरा जाकर देखें तो सही कि कैसा प्रेम है? सो क्या दृश्य देवों ने दिखाया विक्रियाबल से कि अनेक रानियां रो रही हैं, ‘हाय राम, हाय राम’ ये शब्द सुनने में आ रहे हैं और वे देव उदास होकर लक्ष्मण के सामने पहुंच रहे हैं यह कहते हुए—अरे श्रीराम तो मर गए। इस दुःखद दृश्य को देखकर लक्ष्मण के प्राणपखेरू उड़ गए। बाद में वे दोनों देव बहुत पछताये—अरे हमने तो खेल किया था, प्रेम की परीक्षा की थी, यह क्या हो गया? तो परखो वहाँ लक्ष्मण जी गुजरे, पर श्रीराम के कारण नहीं गुजरे। उन्होंने अपने मन में कल्पनायें गढ़ी और सहन न कर सके और मर गए। देखिये सहारनपुर के पास सुल्तानपुर एक कस्बा है, वहाँ की एक बात वहीं पर अभी जल्दी की ही सुनी है कि कोई दो भाई थे, वे जैन थे, उन दोनों भाइयों के नाम का एक स्कूल उनके मरने के बाद एक की पत्नी ने खोला है, जो अभी भी चल रहा है। उनका नाम तो याद नहीं रहा, पर सुना है कि उन दोनों भाइयों में बड़ा घनिष्ठ प्रेम था, वैसे प्रेम का। उदाहरण आज के समय में शायद ही मिले। सुना है कि वे दोनों भाई जीवनभर एक साथ रहे, एक साथ शौचादि जाना, एक साथ खाना, एक साथ सोना, एक साथ काम करना, एक साथ रहना, और सुना है कि उनका मरण भी करीब-करीब एक ही साथ हुआ। तो भाई इतना सब कुछ हुआ, यह तो ठीक है, पर कोई किसी की पर्याय से परिणामता नहीं है। कोई किसी के सत्त्व से अपना सत्त्व रखता नहीं। सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं। सबका परिणमन स्वतंत्र है। मगर विकार की ऐसी बात है कि विकार जब उत्पन्न होता है तो किसी

परनिमित्त को पाकर ही हो पाता है। इसमें तो और बल मिला आपने को कि ये विकार मेरी गाँव की चीज नहीं। ये निमित्तिक हैं। दूसरे के बल पर ही अपना बल रखते हैं। तो सर्वत्र यह देखो सब जगह यह ही बात है।

सूर्य और प्रकाश के उदाहरण में निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातन्त्र्य का दर्शन—अच्छा और भी देखो—यह प्रकाश जो सूर्य का तुम्हारे इस भिन्ननगर में चारों तरफ सड़कों पर मकानों की छतों पर फैल रहा है, तो क्या यह बता सकते हो कि यह प्रकाश किसका है? तो दुनिया तो यही कहेगी कि यह प्रकाश सूर्य का है। अच्छा तो सुनो—जिसकी जो चीज होती है वह उसके प्रदेशों में ही होती है। एक न्याय बना लो जिसकी जो परिणति होती है वह उसके प्रदेशों में ही होती है। हमारे हाथ का रूप हमारे हाथ को, छोड़कर बाहर जायेगा क्या? हमारे हाथ का रस, गंध, हमारे हाथ का आकार, हमारे हाथ की क्रिया यहीं तो रहेगी कि बाहर में जायेगी? तो ऐसे ही सूर्य में लगा लो। सूर्य की जो कुछ भी चीज होगी वह सूर्य में ही होगी, सूर्य से बाहर न होगी। सूर्य का रूप, सूर्य का रस, सूर्य का प्रकाश सूर्य में ही होगा। अब बतलाओ सूर्य कितना बड़ा है? क्या यहाँ भिन्न में भी वह सूर्य घुसा फिर रहा? अरे सूर्य तो ऊपर ही है, कुछ कम दो हजार कोश का है याने सूर्य का नाप इतना है। तो उसका प्रकाश यहाँ नहीं आया निश्चय से, परमार्थ से। सूर्य खुद प्रकाशमान है और उसका सत्रिधान पाकर, उसका निमित्त पाकर यहाँ के पदार्थ खुद अपनी अंधकार अवस्था को छोड़कर प्रकाश अवस्था में आ गए। क्यों जी, सूर्य पुद्गल है ना? और यहाँ की चीजें भी पुद्गल हैं, सूर्य तो निरन्तर प्रकाशमान है, उसकी यह विशेषता है और ये पदार्थ सूर्य का निमित्त पाकर खुद प्रकाशमान हो जायें तो क्या उन्हें इतनी भी विशेषता, सुविधा नहीं दे सकते। है तो पुद्गल ही ना। यह प्रकाश सूर्य का नहीं, किन्तु सूर्य का सत्रिधान पाकर जो पदार्थ प्रकाशित है उसी का परिणमन है। अच्छा चलो अब मकान के दरवाजे के पास एक बड़ा आइना सामने कर दें और जितनी तेज रोशनी सड़क पर है उतनी ही रोशनी घर में भीतर की अंधेरी कोठरी में घुस जाती है। बचे लोग ऐसा खेल करते हैं ना? अच्छा वहाँ बताओ जो कोठरी में प्रकाश आया है वह किसका प्रकाश है? लोग तो कहेंगे कि सूर्य का प्रकाश है, मगर सूर्य का तो नहीं है। अभी तो बताया है। क्या दर्पण का? तो दर्पण का भी नहीं, तो किसका है? उस अंधेरी कोठरी में जो चीजें हैं वे खुद प्रकाशित जो हुई हैं, वह प्रकाश उस ही चीज का है। तो हो कैसे गया? वह प्रकाशमान दर्पण का सत्रिधान पाकर हुआ, सूर्य का सात्रिध्य पाकर नहीं हुआ। उस कोठरी में जो उजेला है उसमें निमित्त सूर्य नहीं है, निमित्त तो दर्पण है। और दर्पण के प्रकाशित होने में वह सूर्य निमित्त है। तो कोठरी में जो उजेला आया है उसके निमित्त का निमित्त है सूर्य, न कि उसका सीधा निमित्त है। आप देखते जावो, निमित्तनैमित्तिक भाव सब जगह व्यवस्थित मिलेगा। अगर ये कहने मात्र के होते तो ये अटपट निमित्त क्यों न बनने लगते? रोज आग का निमित्त पाकर रोटी सिकती, आज चौकी पर सिक जावे, उसमें नियत व्यवस्था क्यों बनी हुई है कि सूर्य का सत्रिधान पाकर ऐसा उजेला हैं तो निमित्तनैमित्तिक भाव भी व्यवस्थित है और वस्तुस्वातन्त्र्य भी पूर्ण व्यवस्थित है।

निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातन्त्र्य की जोड़ी—अब प्रकरण का पुनः स्मरण करे—यहाँ थालियों में जो अनेक चन्द्रबिम्ब आये वह इस चन्द्र का कुछ नहीं है। वह तो थाली में जो पानी है उसका है। कोई कहे कि अगर

थालियों में चन्द्रमा भी नहीं है तो हम बीच में एक तरङ्ग का पाटिया किए देते हैं तब फिर तुम जानो चंद्रबिम्ब? तो भाई बात सुनो—अब थाली के पानी को चन्द्रबिम्ब का सन्त्रिधान नहीं है तो प्रतिबिम्ब नहीं बना, पर उससे कहीं यह तो सिद्ध न होगा कि वह चन्द्र का प्रतिबिम्ब है। देखो—निमित्तनैमित्तिक भाव न होता तो यह दृश्यमान जगत नहीं बनता और वस्तुस्वातन्त्र्य न होता तो यह दृश्यमान जगत नहीं बनता। अगर मान लो ऐसी अंधेर बन जाये जैसे कि होली के दिनों में अंधेर मच जाती है, लोग विचार नहीं करते, जिस पर चाहे रंग या धूल या कीचड़ वगैरा डाल देते हैं। अगर ऐसी अंधेर मच जाये कि कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ को परिणमा दे तो एक ने दूसरे को परिणमाया। तो परिणमन तो एक हो रहेगा। अब इसका रहेगा कि उसका? उसका रहा तो यह मिटा, इसका रहा तो वह मिटा और कभी यह भी मिटेगा। जो दूसरे को मिटायेगा वह खुद भी मिटेगा। जो निमित्तनैमित्तिक भाव से बढ़कर कर्ता कर्म का रूप रख ले तो यह जगत शून्य हो जायेगा। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में कुछ करता नहीं है और क्यों जी, वस्तुस्वातन्त्र्य न रहे तो भी जगत न रहेगा क्या? इसका निमित्त पाकर यह परिणम गया, मगर वह अपने स्वरूप में ही परिणमा, ऐसी ही गाढ़ी अनादि से चली आ रही है। प्रत्येक पदार्थ निज स्वरूप के प्रदेश में ही परिणमता है, तब ही सब चीजें बनी हुई है, नहीं तो यहाँ कुछ बनता नहीं। और निमित्तनैमित्तिक भाव न हो तो नहीं बनता। दोनों का अपना-अपना रूप समझ लो और फिर रही हित की बात तो शिक्षा सबमें मिलती है। जैनागम में जितने भी शब्द हैं सबमें आत्मा के हित की शिक्षा भरी है। उनमें यह छाँट न करें यह शंका न करें कि इसमें हमारा क्या हित होगा? जैनागम का एक भी वाक्य इस जीव का अहित करने वाला नहीं है। सबमें शिक्षा ले लो।

संवादप्रमुखता से प्रमाणत्व का संवाद—यहाँ प्रकरण यह चल रहा कि ज्ञान प्रमाण है, और वे ज्ञानविशेष हैं ५—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें से केवलज्ञान तो समग्र वस्तुओं में पूर्ण रूप से प्रमाण है और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अपने नियत विषय में पूर्ण रूप से प्रमाण हैं और अन्य विषय में नहीं। और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अपने ही विषय में एकदेशरूप से प्रमाण हैं। जैसे अनेक दृष्टान्त लो—ये दृष्टान्त बहुत हैं, आगे बताये जायेंगे, जिनमें एक परिचय बनेगा कि कोईसा भी ज्ञान इतने अंश में प्रमाण है, इतने अंश में अप्रमाण है। तो फिर कोई कहे कि फिर निर्णय कैसे होगा कि यह ज्ञान प्रमाण है कि अप्रमाण, जब कि इसमें दोनों बातें हैं? तो बात यह है कि जिसमें प्रमाणता का अंश अधिक है उसे प्रमाण बोलते हैं और जिसमें अप्रमाणता का अंश अधिक है उसे अप्रमाण बोलते हैं। अन्यथा यह बतलावों कि रसायनशास्त्र में, विज्ञानशास्त्र में यों नाम रख दिये जाते हैं कि यह रसद्रव्य है, यह गंधद्रव्य है। जैसे कस्तूरी, इत्र, कपूर आदिक ये सब कहलाते हैं गंधद्रव्य। और जैसे फल होते हैं ना—रसभरी, गन्ना आदिक ये कहलाते हैं रसद्रव्य। तो यह बतलावों कि उस रसद्रव्य में क्या रस ही रस है? रूप, गंध और स्पर्श आदि नहीं हैं क्या? अरे उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श चारों हैं। तो फिर इसका नाम रसद्रव्य ही क्यों रखा? इसलिए कि उसमें रस की प्रमुखता है। तो जिस ज्ञान में सम्बाद अधिक हो वह प्रमाण है और जिसमें विसम्बाद अधिक हो वह अप्रमाण है। यह निर्णय की बात चल रही है। हमने अगर सीप को चाँदी जान लिया तो बताओ सीप को चाँदी जाना तो यह ज्ञान प्रमाण है कि प्रमाण? वहाँ सफेद जानने में आ रहा ना तो सफेद रंग का जो बोध हो रहा वह प्रमाण है।

कि अप्रमाण? प्रमाण है। और यहाँ जो यह ज्ञान रहे कि वह चांदी है, सीप को चांदी ज्ञान रहे, यहाँ यह विपरीत ज्ञान हो रहा सो यह अप्रमाण है। यह ज्ञान अपने ज्ञानने में प्रमाण बन रहा, मगर जैसा यहाँ ज्ञान रहा है वैसा वहाँ पदार्थ नहीं है, इसलिए अप्रमाण है। तो यह चर्चा आगे आयेगी। एक ही चीज में प्रमाणत्व और अप्रमाण कैसा भरा पड़ा है और फिर भी व्यवहार सही-सही चलता रहता, सभी ज्ञानी प्रमाण को प्रमाण मानते और अप्रमाण को अप्रमाण मानते।

ज्ञानविशेषों के होने का आधार—आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान ज्ञानरूप में जब अपने को निरखेगा कोई तो आत्मा के स्वरूप का परिचय बनेगा। ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही ज्ञान हूँ। कैसा अलौकिक विलक्षण पदार्थ है कि ज्ञानमय है। और कोई भी भाव, कोई भी गुण निराधार होता नहीं। सो यह प्रदेशवान है। जो प्रदेशवान है सो आत्मद्रव्य है। मुख्यता की अपेक्षा जैसे रसमय चीज को रसद्रव्य कहते हैं, ऐसे ही ज्ञानमय इस आत्मा को ज्ञानद्रव्य भी कह दें तो 'आत्मद्रव्य' शब्द से ही समझ में आ जायेगा। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। जब ज्ञानस्वरूप हूँ तो देखो प्रत्येक पदार्थ में ६ साधारण गुण होते हैं, पहला तो यह कि वह है। दूसरा यह कि वह अपने स्वरूप से है, पररूप से नहीं है। तीसरा यह कि वह निरंतर परिणमता रहता है, परिणमे बिना एक समय भी नहीं रहता है। चौथा यह कि अपने स्वरूप से ही परिणमता है, पर स्वरूप से नहीं परिणमता। ५वां यह कि उसका कोई न कोई आकार होता है, प्रदेश होता है, और छठवां यह कि जो इस तरह से हो वही ज्ञान में ज्ञात होता है, असत् ज्ञेय नहीं होता, सत् ज्ञेय होते हैं। तो आत्मा भी एक द्रव्य है, मैं भी एक पदार्थ हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, तो मैं प्रति समय परिणमता रहता हूँ। जैसे घड़ी में चार्मी अच्छी तरह भरी हो, बढ़िया घड़ी हो तो आप सोते रहें अथवा उसका कुछ भी ध्यान न रखें तो भी वह चलती रहेगी। एक मोटा दृष्टान्त दे रहे हैं। उसमें चार्मी न हो तो बंद हो जाये, मगर जितनी बात कह रहे उतने के लिए समझें। ये प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमते रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कोई एक ईश्वर है अलग से, वह जीवों को, चीजों को बनाता रहता है। देखो वस्तुवें हैं अनन्त और उन अनन्त पदार्थों की संभाल वह कैसे करे? कहाँ कहाँ पदार्थ हैं? एक ही स्कंध में अनन्त प्रमाण हैं, अब व्यवस्था कहीं हो रही है और अन्यत्र कोई पदार्थ बिना परिणमे रह जायेगा क्या? कोई यदि भूल जाये या ध्यान न रहे या कोई कारण जुट जाये तो परिणमन न हो ऐसा हो जायेगा क्या? अरे वस्तु स्वयं परिणमनशील है, तब उसमें नाम लगा दो चाहे ईश्वर का, चाहे और किसी का। अगर वस्तु परिणमनशील न हो तो ईश्वर उसे कैसे परिणमाये? पहली बात तो यह समझो और किसने किया? यह तो आगे को बात है, अलग विषय है। वस्तु परिणमनशील है, उसे मना कोई नहीं कर सकता। वह निरन्तर परिणमती रहती है। मैं आत्मा हूँ, पदार्थ हूँ, सदा परिणमता रहता हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ। तो ज्ञान का ही परिणमन होता है। इस आधार पर ज्ञान के भेद कहे जा रहे हैं। तो ज्ञान के कितने परिणमन होते हैं? अनगिनते परिणमन। ज्ञान के कितने भेद हैं? अनगिनते भेद हैं। तो कोई कहे वाह आगम में तो बताया ५ भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, सो ठीक तो है ये पांच उन अनगिनते भेदों की जाति बना दी। उन पर्यायों की कितनी जाति है, प्रकार है? वे अनगिनते ज्ञान ५ प्रकारों में आ जाते हैं। वे ५ प्रकार है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये सब प्रमाणभूत हैं।

चार ज्ञानविशेषों में प्रमाणत्व का अनुरंजन—अब इन पाँच ज्ञानविशेषों को प्रमाणता का हाल देखो । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तो अपने विषय में एक देश रूप से प्रमाण हैं । जब निर्णय करने बैठते हैं तो यों बैठिये कि उसमें किसी का लिहाज नहीं हो । जो युक्ति पर उतरे वह कहना । शत्रु के गुण भी हों तो उसे भी कहना और गुरु के दोष हों तो उसे भी कहना । ज्ञान प्रमाण है तो जब यहाँ निर्णय पर चलते हैं तो सब ज्ञानोरूप यह बात देख लीजिए कि इसमें प्रमाणता कितनी है और प्रमाणता न रहना—यह बात कितनी है? केवलज्ञान से पहले जितने ज्ञान होते हैं वे सब सर्वरूप से प्रमाण नहीं होते, अपने-अपने विषय में प्रमाण हैं । ये अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तो अपने विषय में पूरे रूप में प्रमाण हैं और मतिज्ञान श्रुतज्ञान अपने विषय में पूरे रूप से प्रमाण नहीं, किन्तु एक देश रूप से प्रमाण हैं । इसके दृष्टान्त अनेक हैं, जो आगे बतायेंगे । अभी इस प्रकरण में यह बात समझना कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो अपने विषय में एक देश प्रमाण है, सर्वथा प्रमाण नहीं और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अपने विषय में पूरे प्रमाण है, किन्तु सर्वविषयों में प्रमाण नहीं । केवल केवलज्ञान ही ऐसा है जो सर्वविषयों में प्रमाणभूत है । इसकी क्या कसौटी है? जहाँ-जहाँ सम्वाद रहे सो प्रमाण और जहाँ-जहाँ विसम्वाद आये सो अप्रमाण । सम्वाद के मायने क्या? सम्वाद में तीन बातें परखी जाती हैं—एक तो यह कि उस विषय में अन्य प्रमाण भी गवाही दे तो सम्वाद । दूसरा यह कि उसके अनुसार अर्थ क्रिया व्यवहार होने लगे तो वह विसम्वाद और तीसरा है उस वस्तु की प्राप्ति हो जाये तो वह संवाद । इनके अतिरिक्त चौथी बात यह कि उसमें कोई बाधक प्रमाण न आये । तो तीन बातें तो विधिरूप हैं । जहाँ ये संवाद होते हैं वह प्रमाण माना जाता है । जैसे प्यास लगी तो पानी की जगह गए । पानी देखा तो अब आँख से देखा अब मन ने निर्णय किया, फिर उसके निकट जाने का उद्यम किया, फिर अब हाथने भी छुवा, यों नाना प्रमाणान्तरों से भी उसका वह निर्णय बनता रहे तो समझो कि जो ज्ञान बना, सो प्रमाण । और पानी पीने लगे, अर्थक्रिया होने लगी तो मालूम प्रयोगात्मक भी हो गया प्रमाण और उसमें कोई बाधक कारण न मिले सो निषेधमुखेन भी सम्वाद आया । और जहाँ विसम्वाद हो सो अप्रमाण।

संवाहद मतिश्रुतज्ञान का एक लौकिक उदाहरण—अब प्रमाणत्व व अप्रमाणत्व के बारे में एक दो दृष्टान्त लेंगे तो समझ में आयेगा । रास्ते में चले जा रहे, एक दो मील दूर से एक वृक्ष दिखा, वृक्ष है, यह बात सही है ना? प्रमाण है, मगर दूर से कितना बड़ा दिखा वह वृक्ष? कोई दो ढाई हाथ का दिखा होगा और होगा कोई ४० हाथ का लम्बा । आप कहेंगे कि वाह हम तो समझ रहे कि बहुत बड़ा है तो आप मन से ही समझ रहे है, आँख से तो नहीं ज्ञात कर रहे । जिस आँख से पेड़ दिख रहा है उस आँख से जो ज्ञान बना है उस ज्ञान में वृक्ष है, इतनी बात तो रही सही और जो वह दो-ढाई हाथ का बड़ा वृक्ष दिखा वह वहाँ ही है, ज्ञान एक हो रहा है । अब उसमें यह समझना कि हमको क्यों दिखता है, किसलिए देखा है, क्या काम करना है, उस प्रयोजन के अनुसार संवाद चाकरी करता है । तो यहाँ जो इतना सम्वाद, बन रहा है वह अंश अधिक है, इसलिए प्रमाण है । देखो हम उस समय इसमें तो तर्कणा नहीं कर रहे कि कितना लम्बा-चौड़ा? वहाँ तो देख रहे हैं, देखने में जो आया वह प्रमाण और जब बिल्कुल उस पेड़ के पास पहुंच जायें कोई १० गज की दूरी पर, तो वह वृक्ष कितना बड़ा दिखता? और बीच में और प्रकार से दिखता । तो यह बतलावों कि चाक्षुषज्ञान

से तुम वृक्ष की लम्बाई चौड़ाई ठीक-ठीक कहाँ से बता पावोगे? तो चाक्षुषज्ञान में अन्य बातों की ओर से प्रमाणता नहीं। एक सिद्धान्त हुआ है विदेशों में, जर्मन में उसका हिन्दी अर्थ है सापेक्षवाद, उसने भी स्वीकार किया। सापेक्षवाद के अनुसार चन्द्रमा कितना बड़ा है? तो इसके उत्तर अनेक हैं। जहाँ से देखो वहाँ से उतना उत्तर मिलेगा? जो सापेक्षवाद सिद्धान्त निकला है उसमें और स्याद्वाद में थोड़ा अन्तर तो है मगर एक स्याद्वाद की ही किरण है। तो बात यह बतला रहे हैं कि मति, श्रुतज्ञान पर चूंकि आवरण विशेष है, इसलिए प्रमाणता एकदेश हो पाती है। जैसे-जैसे ज्ञान के आवरण जितना कम होते जाएं उसमें इतनी प्रमाणता बढ़ती जाती है। अब वृक्ष को देखने वाले हजारों आदमी हैं तो लम्बाई-चौड़ाई के बारे में कोई कुछ देख रहा, कोई कुछ। कौनसा प्रमाण है? तो बात यहाँ यह समझनी कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जितने विषय को जानता है उतने विषय में भी एक देशरूप में प्रमाण होता। तब देखा जाता है आपने परखने में सम्बाद है सो प्रमाणता और जहाँ विसम्बाद है सो अप्रमाणता।

ज्ञानस्वभाव और केवलज्ञान में पूर्ण सम्पन्नता व अन्य विशेषों में सम्पन्नता की तरतमता—भैया! स्याद्वाद एक ऐसी अद्भुत देन है। जैसे कोई गुरु गुजर जाये तो शिष्य कहता है कि हमको तो वे महाराज अद्भुत देन दे गए। ऐसे ही हमारे जैनशासन के नायक चले तो गए सब, मगर एक ऐसी देन दे गए कि जिस देव के प्रसाद से हम स्पष्ट रहते हैं, प्रकाश में रहते हैं, निःशंक रहते हैं, मोक्षमार्ग पर चलते हैं। तो स्याद्वाद से निर्णय चल रहा है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने जितने विषय को जानता है उस विषय में एकदेशरूप से प्रमाण है। क्या निर्णय बनायें? सफेद कपड़ा है। तेज धूप में सफेद कपड़ा पड़ा हो तो वह कितना सफेद लगता है? और कमरे के अन्दर सफेद कपड़ा हो तो वह कितना सफेद लगता है और उस पर सर्च लाइट डलवा दी जाये तो कितना सफेद लगता? पर तुम बताओ कितना सफेद है? चाक्षुषज्ञान से तुम उस सफेद का निर्णय तो बताओ। बता तो दोगे, मगर सर्व बातों में प्रमाणता न आ पायी। जहाँ-जहाँ विसम्बाद नहीं वहाँ-वहाँ प्रमाणता है। जिसमें सब लोग कहें कि हाँ यह है, सम्बाद हो गया लौकिक बातों में। अलौकिक बातों में ज्ञानी पुरुष बतावेंगे। लौकिक बातों में सब लोग बतावेंगे। तो प्रमाण तो मिथ्याज्ञान भी प्रमाण है, सम्यग्ज्ञान भी प्रमाण है। पर मिथ्याज्ञान लोकरूढ़ि में प्रमाण है और सम्यग्ज्ञान वस्तुस्वरूप में प्रमाण है। तो अपने स्वभाव को देखो और स्वभाव के जो परिणमन होते हैं उन परिणमनों पर लटू मत हो जाओ, ये कुछ नहीं हैं। ये ज्ञान कुछ नहीं है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, ये कुछ नहीं हैं। मेरी वहाँ सम्पन्नता नहीं है। सम्पन्नता निरखना है तो प्रकट में केवलज्ञान को देखें और अंतः संपन्न चैतन्यस्वभाव को देखें। और बीच में तो अमीर-गरीब का हिसाब जैसे यहाँ लौकिक हिसाब में कोई फिट नहीं बैठता, ऐसे ही बीच के ज्ञानों के पूर्णरूप से प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व की अमीरी-गरीबी हिसाब ठीक नहीं बैठता। वह तो सम्बाद के आधार पर प्रमाणपना कहलाता है। ऐसे कितने ही ज्ञान मिलेंगे। उन सब ज्ञानों में जो प्रकट साक्षात् नजर में है वह प्रमाण है और उसके अतिरिक्त जो। अन्य अंश है, अप्रमाण हैं, पर प्रयोजन तो लगाव तो साक्षात् वाले में है ना। वही सम्बाद बनता है। वहाँ विसम्बाद है वह प्रमाण नहीं है।

सर्व अनुयोगों में सत्यता के दर्शन का कर्तव्य—प्रकरण चल रहा है आत्मा की ज्ञानपर्याय का। दार्शनिक

विषय करणानुयोग और अध्यात्म विषय ये परस्पर विरोधी नहीं हैं। इनमें किसी को कहना सत्य और किसी को कहना असत्य, यह तो ज्ञान के दिवालेपन का ऐलान है। करणानुयोग व्यवहार है। जो भी व्यवहार कहता है सो झूठ है, ऐसी बात नहीं। ऐ जैनशासन प्रेमियो ! ऐसी अभक्ति मत करो। तुम्हारे आगम में एक-एक वाक्य प्रमाणभूत है और जिस रूप में कहा उस रूप में प्रमाणभूत है केवल उपचारभाषा में। अज्ञान का बड़ा दुःख उठाना पड़ेगा। तुम्हारे हित की बात स्वभावदर्शन की उमंग तो सब जगह से मिल जायेगी। प्रमाण से सब निर्णय करके एक स्वभावदृष्टि को मुख्य बनाकर उसी में उतर जाओ, कल्याण का मार्ग है मगर अज्ञानी बनकर स्वभावदृष्टि में उतरो तो धोखा है। यदि ज्ञानी बनकर समस्त अन्य भावों की उपेक्षा करके स्वभावदृष्टि में उतरो तो वहाँ धोखा नहीं है। जिन प्रमाण और नयों से वस्तुस्वरूप का अधिगम होता है तो क्या वे प्रमाण आदिक झूठ हैं ? क्या नय झूठा है? क्या झूठ उपाय से सच्चा ज्ञान बन सकता है? यद्यपि अभूतार्थनय से भूतार्थ का संकेत होता है सो अभूतार्थ भी झूठ नहीं है। सत्य उपाय करना है तो सत्य उपाय चाहिए। वह उपाय ये दोनों हैं—प्रमाण और नय। प्रमाण में हैं ५ ज्ञानविशेष और नय में हैं ७ नय—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय, एवंभूतनय। कोई प्रमाण असत्य है क्या? नहीं। कोई नय असत्य है क्या? नहीं। असत्य है तो केवल उपचार। और इस उपचार को कभी व्यवहार देकर कहते हैं तो वह भी असत्य। वह व्यवहार भी उपचार ही है, पर प्रमाण और नय के अंशरूप जो द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदिक हैं इनमें कुछ भी असत्य नहीं है। निर्णय ठीक बनावें और जहाँ हित मिलता है उसकी ओर निशंक होकर लग जावें। कोई पुरुष जैसे कोई लड़के वाला किसी लड़की के घर गया। उसके ५ लड़के थे। सगाई करनी थी उसको बड़े लड़के की। चूँकि प्रयोजन बड़े लड़के से है सो रुचिपूर्वक देख रहा है और उससे विशेष प्रेम से भी बोलता है, उसका आदर करता, उसका प्रसंग रखता और चार लड़कों का रव्याल नहीं रखता, तो ठीक है, मत रखो, काम तो इससे है ना, मगर वह यह कह बैठे कि ये चार लड़के झूठ हैं, ये मिट्टी के पुतले हैं, लड़का तो यही एक है, सच तो यही है तो क्या वे ४ लड़के झूठ हो जायेंगे? अरे लड़के तो हैं अभी और चार, पर उसे तो इस बड़े से मतलब है। अच्छा है सुशील है, उस बड़े लड़के की रुचि लगायेगा। ऐसे ही द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय के जो भी तत्त्व आगम में बताये हैं उनमें से मुक्ति चाहने वाले पुरुषों को स्वभाव रुच रहा है। स्वभाव से सगाई करें, स्वभाव से नाता लगावें। स्वभाव ही एक बड़े प्रशंसा के रूप में नजर आ रहा है। स्वभाव में ही उतरो, स्वभाव में निःशंक जावो, मगर यह तो न कहना कि पर्याय मिथ्या है, है ही नहीं पर्याय। ऐसा कहने वाले तो सम्वेदनाद्वैतवादी हैं। दर्शनों को पढ़ने से यह ध्यान में आयेगा कि हम स्याद्वाद से यहाँ बाहर जा रहे और इस दर्शन में पहुंच रहे।

अपूर्ण ज्ञानपरिणमनों के परिचय से निरहङ्कारता की शिक्षा—प्रसंग में यह कहा जा रहा है कि प्रमाण और नयों से अधिगम होता है। इसमें प्रमाण ये ४ ज्ञान हैं। ऐसे इन ५ ज्ञानों में प्रमाणता कितनी है? जो ज्ञान जितने विषय को जानता है उतने विषय में प्रमाण है। अनधिकार चेष्टा कोई करे तो उसकी तो दुर्दशा होगी। भले पुरुष सञ्चन पुरुष अनधिकार चेष्टा नहीं करते। सम्हलकर रहते हैं। जिस ज्ञान का जिस विषय में अधिकार है उसको उस विषय में प्रमाणता है अन्य विषय में प्रमाणता नहीं है। काँच आते हैं ऐसे, जिनमें अपना प्रतिबिम्ब

उतरता है, कितनी तरह के काँच होते? किसी में लम्बा प्रतिबिम्ब हो जाता है जिसको देखकर हँसी आयेगी, किसी में ठिगना, किसी में चौड़ा। अज्ञायब घर में देखा होगा। निर्णय करो कि असल में जिसका प्रतिबिम्ब है वह कैसा क्या है? एक देखो सामान्य आकार-प्रकार अङ्गोपाङ्ग, वह तो प्रमाण, पर लम्बाई-चौड़ाई की बात कोई बनाये तो नहीं बनती। देखिये कितना हम आप लोगों के ज्ञान की पोलें खोली जा रही हैं कि हम आपके कितनी पोल बर्सी हैं? जिस पर घमंड इतना करते कि सारी दुनिया कुछ है। जो हूँ सो मैं हूँ, उस ज्ञान की बात चल रही कि वह ज्ञान कितना अधूरा है? केवलज्ञान से पहले सब ज्ञान अधूरे रहते हैं और तभी तो इन जीवों के अज्ञान भाव बताया है। केवलज्ञान हो तो अज्ञानभाव नष्ट होता है। केवलज्ञान जब तक नहीं तब तक अज्ञानभाव है। अज्ञानभाव दो प्रकार के होते हैं—एक तो मिथ्यात्व वाला और एक उदय वाला। तो जो औदयिक अज्ञान है वह १२वें गुणस्थान तक है। निर्णय अपने को क्या बनाना? जो मेरे में परिणमन होते उन परिणमनों के निर्णय में हमें अधिक नहीं जाना है, पर थोड़ा समझ लेना है। परिणमन समझे बिना स्वभाव समझ में न आयेगा। प्रयोजन तो न रहा वह, किन्तु उसके परिचय का भी प्रयोजन स्वभावपरिचय है और फिर अपादान दृष्टि से देखें कि ये सब ज्ञान किस ध्रुव में निकल रहे हैं? वह मेरा है यह चैतन्यस्वरूप। भूतार्थ पद्धति से समझने का तरीका यह है कि उसके अपादान का परिचय कर लें कि यह आस्रव निकला है तो किससे निकला, यह बंध निकला तो किससे निकला, यह शुद्ध परिणाम निकला तो किससे निकला, जिससे निकला उसका परिचय बनायें, यह पद्धति भूतार्थ की ओर ले जायेगी।

अन्तिम एक लक्ष्य बनाकर उसकी धून में प्रवर्तन करते हुए भी लक्ष्य का सतत आमन्त्रण—ये सब चैतन्य के परिणमन हैं, ज्ञान के परिणमन हैं, पर ये सब अधूरे हैं। अपना लक्ष्य बनावें एक। जैसे बम्बई जाने का किसी का लक्ष्य हुआ है, मानो ग्वालियर से बैठे तो सीधे बंबई पहुंच गए। रास्ते में अनेक स्टेशन बड़े सुहावने लगते हैं। कहीं चित्र खिंचे हैं, कहीं झंडियां लगी हैं, कहीं वृक्षबेल खड़ी है, कहीं अच्छे-अच्छे फूल खिले हैं, तो किसी स्टेशन को सुहावना देखकर कोई मुसाफिर उतर जाता है क्या? उतरता तो नहीं। इतने समझदार तो सभी लोग हैं। कदाचित् किसी प्रयोजन से नीचे उतरना भी पड़े, मानो चाय पीना है या पानी पीना है या मिठाई खरीदना है या यों ही टहलना है तो बस थोड़ासा रुकते और ज्यों ही गाड़ी चलने को होती कि झट अपनी सीट पर आ जाते हैं। तो इसी तरह अपना ध्येय बनायें कि हमको तो केवल शुद्ध होना है, मुक्त होना है तो उस मुक्त होने के पौरुष में बीच में अनेक बातें आयेगी। कुछ तप, ब्रत संयम आदि अनेक आचरण की बातें करनी होंगी। यश प्रतिष्ठा आदिक कुछ लुभावनी, चीजें भी सामने आयेगी, पर क्या उन बीच के स्टेशनों में उतरना है? क्या उनमें रमना है? अरे प्रयोजनवश उतर जायें, पर झट अपनी ज्ञानधारा रूपी ट्रेन पर आ जावें। जब अपनी मंजिल में पहुंचने का काम पड़ा है तो बीच के स्टेशनों में उतरो मगर रमो मत। तो उस मंजिल तक पहुंचने के बीच ये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान और इनके नाना भेद प्रभेद ये सब बातें आती हैं और समझो कि, ये हमारी प्राप्तव्य मंजिल नहीं। अनेक ऋद्धियों पैदा होती हौं जिनके ज्ञानऋद्धि भी है, अन्य ऋद्धियां भी है, पर उनमें भटकना नहीं। साधु-संतों को तो प्रकट भी नहीं रहता कि हमें क्या ऋद्धि मिली? कुछ प्रयोजन ही नहीं है। जो प्रयोजन का विकल्प रखता है सो गिर जाता है। जब १०वाँ

विद्यानुवाद पूर्ण सिद्ध होता है तो वहाँ सैकड़ों विद्या महाविद्या देवियों के रूप में आकर प्रार्थना करती हैं मुनि महाराज से और वहाँ वे चिंग जायें तो बस गिर जाते हैं और नहीं चिंगते तो आगे बढ़ जाते हैं। तो ध्येय बनावें एक लक्ष्य में चलें और इस व्यवहार में विरोध खिंचाव फर्क ये बातें नहीं लेना है। ये बेकार की बातें हैं। तुम इतना करते तो बहुत अच्छा, तुम इतना कर पाते बहुत अच्छा। यहाँ की बातों में अटक जायें तो, दूसरे की क्रिया में अटक जाये तो खुद का पतन किया। सब प्रमाण है। किसी को विशेष ज्ञान नहीं है तो उसका भी व्रत तप सराहनीय है, किसी को ज्ञान विशेष है तो उसका भी तप व्रत सराहनीय है। कोई विरोध करके अपने ज्ञान को क्यों अपात्र बनावें? अपने भीतर लक्ष्य बने, अपनी धुन में चले, बाहर में सब अच्छा, कोई बुरा नहीं। धर्म के नाम पर जो जितना करता है वह अपनी पदवी में भला करता है। जो कम ज्ञान रखता है उसे सम्हालो, आगे की बात सिखाओ, उसे दुतकारों नहीं। क्या कहलाता है वात्सल्य अंग और क्यों कहलाता है स्थितिकरण अंग? अभी सम्यग्दर्शन की व्यवहार स्थितियों का भी पालन नहीं हुआ तो फिर हम क्या बने धर्मपालक?

इन्द्रियज ज्ञानों का अपने विषय में देशतः प्रामाण्य—‘तत् प्रमाणे’ इस सूत्र में यह बताया जा रहा है कि वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। इसमें दोनों तरफ से निश्चय बनाना है। ज्ञान ही प्रमाणरूप है, अज्ञान नहीं। और वह ज्ञान मूल में दो प्रमाणरूप ही है। मूल में नाना भेद नहीं हैं। तो ज्ञान की प्रमाणता के बारे में वर्णन चल रहा है कि हम आपको जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान पराधीन है और अधूरा है। इस ज्ञान में अहंकार न करें, इसमें संतोष मत बनावें। यह तो परिस्थितिवश इनमें से गुजरने की बात है। देखो स्पर्शन इन्द्रिय से कोई चीज जानते हैं तो वहाँ बहुत गड़बड़ी मिल जाती है। कोई बीमार आदमी है, बुखार चढ़ा है और वैद्य उसकी नाड़ी देख रहा है, वैद्य को तो लग रहा है उसका हाथ गरम और उस रोगी को लग रहा है वैद्य का हाथ अधिक ठंडा। अच्छा यह बताओ कि जितना ठंडा हाथ वैद्य का लग रहा है उस रोगी को क्या उतना ठंडा वह हाथ है? नहीं। यह स्पर्शनइन्द्रिय भी सामान्यतया तो प्रमाण है, पर उसके अंशों को निरखा जाये तो प्रमाणता नहीं ला सकते। अधिक गरम पानी में आपका हाथ ढूबा हो, दिख रहा हो और उसके बाद फिर कम गरम पानी में हाथ डालें तो आपको गरम मालूम होता है या ठंडा मालूम होता है? ठंडा मालूम होता है। तो अब सामान्यतया तो निर्णय बनाते हैं और उनके अंश-अंश कर निर्णय देखने चले तो वहाँ ज्ञानप्रमाण न रहेगा। कभी-कभी लोग त्यागियों के साग में थोड़ी मिर्च डाल देते हैं, जो कि गृहस्थ जनों को तो थोड़ी है, मगर त्यागियों को तो लगता है चरपरा बहुत अधिक और गृहस्थ जन उस मिर्च की शाक को खाते हैं तो उन्हें चरपरा नहीं लगता, सो कहते जाते कि इसमें और मिर्च डालो, अजी इसमें बिल्कुल थोड़ी मिर्च पड़ी है। खाने वाले को तो थोड़ी है, चरपरा भी नहीं, है और उसे तो उसके चरपराहट में यह आकुलता है कि कुछ डाला ही नहीं है। तो चरपरे का ज्ञान करके दोनों बताओ सही चरपरा क्या है, कितना है? सामान्य ज्ञान में तो प्रमाणता आ गई, अगर उसके अंश-अंश की जानकारी में दखल दें तो यह अधिकार नहीं बन पाता। ग्राणेन्द्रिय का विषय निरखिये—किसी को कोई चीज मानो हींग खाने वाले को हींग में सुगंध मालूम होती और न खाने वाले को दुर्गंध लगती। सामान्यतया गंध के ज्ञान में तो प्रमाणता आयी, पर कितनी गंध है, कितनी सुगंध है, ऐसी अंश

के परिचय में बात नहीं बनी। चक्षुरिन्द्रिय की बात तो पहले बता ही दी गई थी पहिले उदाहरण में। श्रोत्र इन्द्रिय का ज्ञान भी ऐसा ही बोध रखता है। बाहर के शब्द सुना, पास के शब्द सुना तो उसमें अन्तर है। तो शब्द मात्र सुने इतने में प्रमाण है। तो बात यह कह रहे हैं कि जिन ज्ञानों पर हम आप घमंड किए रहते हैं, गाल फुलाये रहते हैं, आँख मुँह चढ़ाये रहते हैं, हम तो खूब बुद्धिमान हैं, हम ने सब कुछ सीख लिया, हम उस अहंकार के आगे ज्ञानी का, साधु-संत का अपमान करते हैं, तो ध्यान में लावो कौनसा ऐसा ज्ञान पाया जो घमंड के लायक है? भैया! देखो, पर्याय को देखकर तो अपने को गरीब मानो और स्वभाव को निरखकर अपने को सम्पन्न मानो, पर स्वभाव के तो गरीब बन रहे हैं, पर्याय के अमीर बनना चाहते हैं तो कैसे कल्याण हो? तो इन्द्रियज ज्ञान में ऐसी बात है।

श्रुतज्ञान में प्रायोजनिक ज्ञान के साथ अनायास अनेक अप्रायोजनिक बोध—श्रुतज्ञान में भी देखो, शास्त्र से जान लिया कि भरत और बाहुबलि का युद्ध हुआ था, इतना ही जाना कि और कुछ? पर इस ज्ञान के साथ पूरा नक्शा ज्ञान में आ जाता है। यह खड़े भरत, यह खड़े बाहुबलि, इस तरफ इनका मुख है, इस तरफ इनका मुख है, चित्र में कल्पना में वे सब बातें आ गई ना, तो क्या ऐसा था मुख? कल्पना में आया कि पूरब की तरफ को मुख भरत का और पश्चिम की तरफ को मुख बाहुबलि का, मगर इसका क्या पता? मगर यह ज्ञान करने वाला तो ऐसा एक ज्ञान बना रहा कि यह नियंत्रण में ही नहीं रहता। कल्पना कर गए। अखबार में पढ़ा, मानो बम्बई में दो पहलवानों का दंगल हुआ—उसमें यह जीता, ऐसा समाचार अखबार में देखा तो इतना देखने पर बम्बई उसके सामने है और पहलवान भी उसके सामने है। हैं नहीं, पर कल्पना कर ली। कुछ से कुछ अपनी कल्पना बनाता, एक साँवला है, एक गोरा है, ठिगना है..... समाचार तो उतना ही अखबार पढ़ा था कि दो पहलवानों का दंगल हुआ और इतना विशेष ज्ञान कर लिया। अब जितना यह रूप बनाया उतने को बोल सकते क्या, ऐसा ही सही है, पर प्रयोजन की बात प्रयोजन को छोड़कर आप यदि बाल की खाल देखेंगे तो काम न बनेगा।

जैन आगमों के कथानकों की प्रमाणता—जैन ऋषि संत बड़े परमप्रतापी व दयालु थे। उनकी कलम कभी खोटी बात के लिए नहीं चली। और अब ऐसे मूढ़ उत्पन्न हो रहे स्वच्छन्द बनकर अपनी जीभ को हिलाने में संकोच भी नहीं करते। अरे वह तो कथानक है यों ही है। अरे जिनसेनाचार्य आदिक आचार्य, जिन्होंने आध्यात्मिक ग्रंथ भी बनाये हैं करणानुयोग में जिनकी गति रही उन्होंने अगर कथा कही है तो उसमें भी एक बाल की खाल निकालना, यहाँ ऐसा लिखा वहाँ वैसा लिखा। इसमें ऐसा वर्णन किया, शृंगार का, वीर का, अमुक का। ऐसे श्रद्धाहीन की क्या दशा होगी? अरे उद्देश्य होता है प्रयोजन को लेकर। प्रयोजन देख लो—अगर राम लक्ष्मण का, सीता का चरित्र है तो उसमें अधिक वर्णन है। जो होना चाहिये। अब उस वर्णन में किसी बात को सामने रखकर सारे ग्रन्थों को झूठ कहने की व जीभ हिलाने की कोशिश करना यह गुण्डागिरी नहीं है क्या? प्रयोजन में फर्क आये तो वहाँ जीभ हिलावो। प्रयोजन यह है कि शीलत्रत वैसा रखना चाहिए जैसा कि उस सीता का रहा, व्यवहार में मर्यादा ऐसी रखनी चाहिए जैसी कि श्रीराम ने रखी। थोड़े से प्रयोजन के लिए आडम्बर अधिक बोलना पड़ता है। नहीं तो बताओ लड़का-लड़की का विवाह कितनी देर में होता है?

मुश्किल से एक डेढ़ मिनट लगते होंगे, जब फेरे फिर रहे उसी का नाम तो विवाह है। अब कोई कह कि ज्यादा नटखट क्यों, करते? वही एक-डेढ़ मिनट का प्रोग्राम बना दो। कहीं भी लड़का लड़की मिल गए, बस वहीं चक्कर घुमा दिया, हो गया विवाह। आजकल तो कहीं-कहीं मात्र जयमाला डालकर ही विवाह होने लगे हैं। बताओ उस तरह के विवाह में कितनी देर लगती? पर एक मिनट के ही मात्र प्रोग्राम से विवाह करने में बड़ा अनर्थ होगा। इसमें फिर विवाह करने का कुछ महत्व न रहेगा और फिर वह शील ब्रत, आज्ञाकारिता या व्यवहार की जिम्मेदारी या जो-जो व्यवहार है वह सब खत्म हो जायेगा अगर आपने विवाह की प्रथा एक-आध मिनट की रख दी तो। और जब विवाह करने में कुछ दिन या घटा लगते—अब बारात आयी, अब यह हो रहा, अब यह हो रहा, मन्दिर के अन्दर में विधान है, अमुक है अमुक है, और उसकी ६ महीना पहले से तैयारी होती, तो ऐसा होने वाले विवाह का कितना महत्व बढ़ता है? विवाह का प्रभाव रहने में शीलब्रत की परम्परा निभेगी। वहाँ व्यवहार नीति रीति, डर, भय, संकोच, सदाचार, शील आदिक सबकी रक्षा है। अब कोई कहे कि जब राम के चरित्र में इतनी ही बात दिखाना था कि सीता का जैस शील और राम की जैसी मर्यादा तो उसे एक ही लोक में लिख देते तो बताओ उसका कुछ प्रभाव भी पड़ता क्या? लोगों का कुछ अध्ययन भी बनता क्या? तो जैन आगम का कोई भी शब्द निरर्थक नहीं है। मान लो रुचि के अनुसार कोई शब्द अधिक मालूम होता तो तुम एक भक्ति रखकर अपनी रुचि के अनुसार अपने मननीय तत्व में लग जावो, पर अभक्ति का, अश्रद्धा का पाप न करो, अपने प्रयोजन में रहो, उद्घण्ड मत बनो। उद्घण्डता बुरी चीज है और प्रमाण से यथार्थता जान कर अपने प्रयोजन में लगे रहना इसमें हानि नहीं है।

श्रुतज्ञान के देशतः प्रामाण्य का दिग्दर्शन—श्रुतज्ञान में भी देखो बहुत-बहुत प्रकार के परिचय हैं। पर प्रायोजनिक अंश की अपेक्षा प्रमाणता है और बड़े-बड़े अप्रायोजनिक अंशों की भी कल्पना हो रही, उस ओर से इसका क्या मतलब? वह प्रमाण नहीं है, न सही। एक पुरुष जिसने अपना बब्बा नहीं देखा, पैदा होने से दो ही साल पहले मर गया और जब कोई बच्चे से चर्चा करते हैं ना ८-१० वर्ष के बालक से भी कि तुम्हारा बच्चा ऐसा था, बहुत श्रम करता था और सबकी याद रखता था तो बच्चा भी कल्पना में तो ला ही देगा कि ऐसी मूँछें ऐसा सिर, कुछ कल्पना में तो आयेगा। अब कल्पना में जैसा सिर आया, जैसा हाथ आया, जैसा पेट आया है वैसा है कि नहीं, क्या पता, वह हो न हो, प्रायोजनिक ज्ञान में प्रामाण्य है ही। हाँ, प्रमाण ज्ञान के साथ अप्रमाण ज्ञान भी बहुत चलता रहता है, पर प्रयोजन की दृष्टि से प्रमाण की व्यवस्था है। अच्छा आप लोगों में से किसी ने मेरूपर्वत तो नहीं देखा, और जब जानते हैं ना, भगवान का जन्म हुआ, ऐसे देव आये, ऐसे गाजे-बाजे से ले गए। मेरूपर्वत पर ले गए और वहाँ से क्षीरसमुद्र तक फैले, वहाँ से पानी लाये, हवन कराया और फिर घर ले आये। सुन तो रखा ना। तो सुनकर ही लोग रह जाते क्या? अरे वे तो अपने चित्त में मेरूपर्वत खड़ा कर देते हैं। और ऐसे जा रहे, ऐसे रंग की ऐसी सवारी, ऐसे फिर रहे, कितने ज्ञान होते रहते हैं, पर उसमें प्रयोजन जितना है उतने में तो प्रमाणता है, मगर ऐसा हो फिरना ऐसे ही भगे क्षीरसागर जैसे कि हमारे मन में चित्र खिंच रहे हैं इनमें क्या प्रमाणता? तो बात यह कह रहे हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने विषय में भी एकदेशरूप से प्रमाण हैं। जो गर्व करे अपनी वर्तमान बुद्धिमानी चतुराई में सो मूर्ख है। गर्व के लायक यहाँ

कुछ नहीं है। किसी बड़े पुरुष को देखकर छोटा पुरुष गर्व में तो नहीं आता। यहाँ तो बड़े धनिक को देखने की आदत बन रही है और यहाँ ज्ञान में क्यों नहीं आ पाता बड़ा ज्ञानी केवली प्रभु उसे देखकर चलें, उसमें सम्पन्नता की होड़ क्यों नहीं मचाते? सम्पन्न है तो स्वभाव या केवलज्ञान, बीच की बातें ये सम्पन्न नहीं।

ममता अज्ञानता की विडम्बना का एक दृष्टान्त—दो मूर्ख कहीं जा रहे थे तो रास्ते में एक बुढ़िया मिल गई। उन दोनों मूर्खों ने कहा—राम-राम, तो बुढ़िया ने कहा बेटा सुखी रहो। अब वे दोनों आगे निकल गए। वहाँ उन दोनों में लड़ाई होने लगी—एक कहे कि बुढ़िया ने हमें आशीर्वाद दिया दूसरा कहे कि हमें आशीर्वाद दिया। दोनों में झगड़ा हो गया तो दोनों में यह सलाह हुई कि चलो लौटकर चले उस बुढ़िया के पास और उसी से पूछ लें कि तुमने आशीर्वाद किसे दिया? पहुंचे बुढ़िया के पास और पूछा—बुढ़िया माँ बताओ तुमने आशीर्वाद हम दोनों में से किसको दिया था? तो बुढ़िया बोली—तुम दोनों में से जो ज्यादा बेवकूफ होगा उसी को हमने आशीर्वाद दिया। तो अब वे दोनों इस बात में झगड़ने लगे कि हम अधिक बेवकूफ हैं। एक कहे कि हम अधिक बेवकूफ दूसरा कहे कि हम अधिक बेवकूफ। बुढ़िया ने पूछा—कैसे? तो एक बोला—देखो हमारे दो स्त्री हैं। तो एक बार हम सीढ़ी से अटारी पर चढ़े, तो एक स्त्री तो थी ऊपर और एक थी नीचे। तो एक स्त्री ने ऊपर से हमारा हाथ पकड़कर ऊपर को खींचा, उसका कहना था कि ऊपर आओ और नीचे से एक स्त्री ने हमारा पैर खींचा, उसका कहना था कि नीचे आवो। तो इसी खींचातानी में देखो हमारी टांग टूट गई। हमें था दोनों स्त्रियों में प्रेम सो हमने किसी को डाट-डपट तो दिखाया न था, तो देखो हम कितने बेवकूफ निकले? तो बुढ़िया बोली ठीक है, तुम बेवकूफ हो। अब दूसरे से कहा कि तुम अपनी बेवकूफी की बात कहो, अच्छा सुनो-देखो मेरे भी दो स्त्रियाँ हैं। सो एक बार मैं पलंगपर लेटा हुआ था। हमारे सिरहाने एक आले में सरसों के तेल का एक दीपक रखा हुआ था। हमारे दोनों तरफ दोनों स्त्रियां पड़ी थीं। हमारे एक हाथ पर एक स्त्री अपना सिर रखे सो रही थी और दूसरे हाथ पर दूसरी स्त्री सिर रखे सो रही थी। वहाँ हुआ क्या कि एक चूहे ने जलती हुई दीपक की बत्ती खींची और दौड़ लगाई तो उसके मुख से छूटकर वह जलती हुई बत्ती हमारी आंख आ पड़ी। अब मैंने सोचा कि यदि मैं आंख से इस बत्ती को दाहिने हाथ से उठाता हूँ तो इस स्त्री के आराम में फर्क आ जायेगा और यदि बायें हाथ से उठाता हूँ तो हमारी इस स्त्री की निद्रा भंग हो जायेगी, सो उनको कष्ट होगा। ऐसे अनुराग के कारण मैंने वह बत्ती न उठायी सो देखो मेरी यह आँख फूट गई। सो देखो मैं कितना बेवकूफ हूँ? तो बुढ़िया माँ ने कहा—बेटा हमने तुम दोनों को आशीर्वाद दिया। तो जगत में जो मोह करता, गर्व करता, मूढ़ता में होड़ लगाता वह तो दीन गरीब प्राणी है।

शुद्ध भावना रख कर आत्मोद्धार में पौरुष करने का अनुरोध—हम यदि स्वभावदृष्टि का रूप रख रहे हैं। देखो अपनी बात, खुद गवाह दे देती है कि तुम्हारा ध्यान किस ओर बना रहता है? अगर हमारा ध्यान एक चैतन्यस्वभाव अपने सहजस्वरूप की ओर रहा करता है, उसकी ही धुन रहती है, उसका ही सारभूत होने का चित्त में ख्याल रहता है तब तो हमारा सुधार है। जिससे कि हमारा सत्समागम सार्थक है और ऊपर की बात में जो रहता है चाहे वह ज्ञानचर्चा की ही बात क्यों न हो, इसमें हम यह कहते कि ये तो हमारे विरोधी हो गए। यों कपाय शल्य रखने वाले लोगों की दुर्दशा ही परिणाम है। अरे-अरे अपने इस उपयोग को इस ज्ञानसमुद्र

से हटाकर रेतीली जमीन में क्यों उचका रहे? कोई मछली समुद्र से उछलकर रेतीली जमीन में गिरे तो उसकी खैर है क्या? नहीं है खैर, ऐसे ही अपने इस ज्ञानस्वभाव से हटकर बाहरी-बाहरी पदार्थों में तफरी करने के उद्देश्य वाली तत्त्वचर्चाओं में, विषयों में हमने उपयोग को लटकाया, फिकाया तो इसमें कुशलता नहीं है। जरा सब जीवों के ज्ञानस्वभाव को निरखकर एक बार तो सबमें एकरस हो जाओ। न यह देखो कि यह एकेन्द्रिय है, न यह देखो कि यह कीड़ा मकौड़ा है और न यह देखो कि यह अमुक है। एक बार तो उन सब जीवों में चैतन्यस्वभाव का आश्रय कर अन्तः एकरस तो हो जाओ। ऐसी मित्रता बनाओ। आदमियों की बात तो दूर रहे सर्व जीवों से मित्रता हो। और फिर देखो चार भावनायें कही गई हैं—सब जीवों में मैत्रीभाव रखना, गुणियों में प्रमोद रखना, दीन-दुखियों के प्रति दया रखना, उज्ज्ञ, गुण्डा, बदमाशों के प्रति मध्यस्थता रखना। आप इन चार बातों का पालन करें तो इसमें आपकी सुरक्षा है। सर्वजीवों के प्रति मित्रता का भाव हो, सब मेरे बिरादरी के हैं, सब जीव चैतन्यस्वरूप ही तो हैं, और, ज्ञानियों को देखकर हर्ष हो। क्यों जी, सब जीवों को देखकर मित्रता का भाव किसके नहीं होता? जो पर्याय बुद्धि वाला है, जिसको देह में अहंकार है, यह ही मैं हूँ, मैं अच्छा हूँ, ऐसा जीव सब जीवों में मित्रता का भाव नहीं रखता और ज्ञानियों को देखकर प्रमोद किसे नहीं होता? जो ज्ञानवान हों, चारित्रवान हों उनको देखकर हर्ष किसके नहीं होता? जो मूढ़ हैं, मूर्ख हैं, जिनको अपने इस वर्तमान पर्याय पर गर्व है और जिसने अपने को समझा रखा कि मैं उच्च हूँ, उसकी निगाह में गुण कुछ चीज नहीं। फिर गुणी जनों को देखकर उसे हर्ष कैसे होगा? जो खुद आत्मसेवा प्रेमी है, जिसको गुणों का लक्ष्य बना है, जिसको गुणों का अंदाज है वह गुणों को देखकर हर्ष बिना रह नहीं सकता। गुणार्थी बनें जिससे कि गुणियों में प्रमोद बने। दोषार्थी रहेंगे तो घृणा बनेगी और उस दोषार्थी के उपयोग पर घृणा लदेगी, वह स्वानुभव से कोसों दूर रहेगा। तीसरी भावना क्या है? दीन-दुःखियों को देखकर दया का भाव आना। जितनी सामर्थ्य है उतना तो, दुखियों का दुःख दूर करें। कोई किसी पर दुःख आये, हम उसका पूरा सहकार नहीं कर सकते तो कुछ तो करें। कोई दुःख सामने है तो थोड़ा सहकार उसका कर दें। अपनी दया की प्रकृति बना लें और जो उज्ज्ञ हैं, जिनकी वृत्ति है अज्ञान की, दरिद्र है, साधु-संत से घृणा रखते हैं, बुद्धि का दिवाला जिनके है ऐसे लोगों में रागद्वेष तजकर मध्यस्थ भाव रखें। देखो जी जो उज्ज्ञ हैं, गुण्डा हैं उनमें राग करो तो आफत और बैर करोगे तो आफत, इसलिए मध्यस्थता बताया है। ऐसा अपना जीवन बनावें। अपना उथान जिसमें हो वह तरकीब बना लें।

मति श्रुतज्ञान के एकदेशतः प्रामाण्य की समझ का प्रतीति से अविरोध—हम आपके यहाँ जो परिणमन चलते हैं, पर्यायें हो रही हैं, उनमें सार कुछ नहीं है। वे सब अधूरी बातें हैं। प्रमाण में क्या कहा गया कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—ये दो तो अपने विषय में भी एक देशप्रमाण हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान—ये दो अपने विषय में पूर्ण प्रमाण हैं और केवलज्ञान सर्वविषयों में सर्वप्रकार प्रमाणभूत है। देखो अपनी-अपनी प्रतीति से भी समझ लो। कोई विरोध नहीं। जिनकी दृष्टि में कोई विकार नहीं, आँखें साफ हैं उनको जैसे चन्द्र सूर्य दिखा तो आँखों देखा ना, प्रमाण है ना? प्रमाण है। अब कितना छोटा है, कितना बड़ा है, कितनी दूर है, यह उससे यथार्थज्ञान नहीं बना। तो उस चन्द्र की जो एक मोटी रचना है और उसकी चमक है उतने ज्ञान में तो यह दुष्ट

प्रमाण है हमारा ज्ञान, मगर कितना लम्बा, कितना चौड़ा, कैसा माप, उसमें जो चाक्षुषज्ञान में जंच रहा वह पुष्ट प्रमाण नहीं। तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने विषय में एकदेश प्रमाण हैं, ऐसी प्रतीति सभी मनुष्यों को बराबर बन रही हैं।

प्रमाण की प्रमाणता के परिचय के चिह्न—प्रमाण समझने के हमारे चार तरीके हैं। तीन तो विधिरूप और एक निषेधरूप। हमारा यह ज्ञान प्रमाण है, इसका निश्चय करने वाले तीन तो हैं विधि के उपाय और एक है निषेध का उपाय। जानकारी हो रही और अन्य प्रमाणों से भी वैसा ही जाना गया, और लोगों ने भी ऐसा जाना। इससे जान लिया कि मैंने जो जाना वह सही जाना। इसे कहते हैं प्रतिपत्ति। ज्ञान सम्बादक है, प्रमाणभूत है। इसका पहला चिन्ह है प्रतिपत्ति। हम जान रहे हैं, फिर और ज्ञानियों ने उसे जाना, तब जाना कि हां बराबर प्रमाणभूत है और दूसरा चिन्ह है प्रवृत्ति। जो जाना उसके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति होती है। जाना कि पानी है तो चलते हैं पानी के पास जाना कि आग है तो हटते हैं अथवा रोटी बनाने को उसके पास पहुंचते हैं। तो यह जो हमारी प्रवृत्ति बनती है यह प्रमाणता का चिन्ह है कि जो ज्ञान हमने जाना वह प्रमाणभूत है। तीसरा चिन्ह क्या है? प्राप्ति। जैसा जाना वैसा मिल गया। बताओ उसकी प्रमाणता में क्या संदेह रहा? तो ये तीन तो हैं विधिरूप चिन्ह और चौथा है अभावरूप उपाय, वह क्या बाधक का अभाव? जो जाने उसका ख्याल बताने वाला कोई ज्ञान न मिले तो समझो कि प्रकृत ज्ञान ठीक ही है। तो इस तरह हमारे ज्ञानों में जो सापेक्ष प्रयोजन की बात सामने आती है उतने को तो हम ठीक ही जानते हैं। पर उस वस्तु के विषय में यह प्रमाण नहीं बना। इस प्रकार यह ज्ञान हमारे प्रयोजन के प्रसंग में सम्बाद को लेकर प्रमाणभूत होता है। इस तरह प्रमाण ज्ञान ही होता है, अज्ञान प्रमाण नहीं कहलाता। इस तरह इस प्रसंग में यहाँ तक यह व्यवस्था बतायी कि सर्व ज्ञानों में केवलज्ञान सर्वथा प्रमाण, अवधि, मनःपर्ययज्ञान अपने विषय में पूर्ण प्रमाण और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अपने विषय में एकदेश प्रमाण है। हम आप लोग मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के अधिकारी हैं और वे सब अपूर्ण हैं। हम उस ओर कुछ सम्पन्नता की दृष्टि न दें और बालकों की तरह गर्वरहित हों। बालकों में कहाँ ज्ञान का घमंड होता? उनको तो जानने की जिज्ञासा रहती है। जानने के लिए वे लालायित रहते हैं, जो समझ में आ गया उस ओर बढ़ते हैं। तो इस प्रकार अपने अपूर्ण ज्ञानपर्याय की बात समझकर वहाँ से दृष्टि हटाकर एक सम्पन्न जो मेरा ज्ञानस्वभाव है उसको अपनाओ। उसमें यह मैं हूं—ऐसी प्रतीति बनाओ, अनुभव बनाओ।

मतिज्ञान व श्रुतज्ञान की, देशतः प्रमाणता का स्मरण—चर्चा यह चल रही है कि हम आपके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने विषय में एकदेशरूप से प्रमाण हैं। देखो यहाँ यह भी न बोलना कि जो देशनात्मक श्रुत है, द्रव्यश्रुत है, आगम है, भगवान की दिव्याख्वनि की मूल परम्परा से चला आया हुआ है, गणधरदेव ने जिसका व्याख्यान किया है तथा द्वादशांग की रचना की है और आचार्यों ने जिसको विशेष विस्तार में लिखा है वह सब पूर्णरूप से प्रमाण है। वहाँ एक देश वाली बात नहीं है, किन्तु हम जो समझ पाते हैं उस समझ की बात कह रहे हैं कि हमारा जो श्रुतज्ञान है वह अपने विषय में एकदेश प्रमाण है। इस सम्बंध में बहुत कुछ वर्णन किया गया व दृष्टान्त भी अनेक दिए गए। अब इन सब विवरणों को सुनकर जिसमें यह बताया गया था कि जिसकी

दृष्टियाँ निर्मल हैं, आँख में कोई दोष नहीं है वह जैसे चन्द्र सूर्य को देखता है तो देखो चन्द्र सूर्य ऐसे हैं, बहुत ऊपर हैं, आकाश में हैं, यह सब ज्ञान तो प्रमाणभूत है, पर वह कितना बड़ा है, कितना चौड़ा है, इस बात में हमारे ज्ञान की प्रमाणता नहीं बन पायी और इस-इस तरह से अनेक दृष्टान्तों द्वारा सिद्ध किया गया कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक देशरूप प्रमाण हैं।

मिथ्या ज्ञानों की स्वरूप में व अल्पांश में प्रमाणताविषयक चर्चा—उक्त बात को सुनकर अब शंकाकार क्या कहता है (यह एक कुछ नया विषय है, ध्यान से सुनो) कि जब यह बताया कि इन ज्ञानों में कुछ-कुछ अंशों में प्रमाणता आती है, तो सभी ज्ञान-ऐसे ही होने चाहिएँ। स्वप्न में जो दिखा, पीलिया रोग वाले ने जो समझा या कभी चकाचौंध लगती है उस समय जो कुछ निरखा गया, उन ज्ञानों को तो लोग झूठ ज्ञान कहते हैं ना? जो स्वप्न में देखा गया वह ज्ञान झूठा है। पीलिया रोग वाले को सब चीजें पीली ही पीली दिखी। कितना ही सफेद बगला है, मगर पीलिया रोग वाले को तो पीला ही नजर आता है तो ऐसा ज्ञान झूठा है ना, तो ऐसे भी झूठे-झूठे ज्ञान हैं उनमें भी एकदेश से प्रमाणता क्यों न मान ली जाये? अज्ञान में भी एकदेश प्रमाणता मानो। सर्वदेश प्रमाण की बात तो रही नहीं। तो सारे ज्ञान चाहे कितने ही झूठे हो उनसे कुछ ज्ञान तो होता ही है, फिर वे भी कुछ प्रमाण मान लिए जाने चाहिएँ। तो इसके समाधान में कहते हैं कि तुम्हारी बात शंका की नहीं है, किन्तु यह तो सही बात बोल रहे। हम इसे शंका नहीं समझते। सभी ज्ञान किसी न किसी अंश रूप में प्रमाण हैं। जैसे कि सभी मनुष्य किसी न किसी अंश में गुणवान हैं। आपको एक भी मनुष्य ऐसा न मिलेगा कि जिसमें किसी भी रूप से गुण न हों। गुण भी पाये जाते, दोष भी पाये जाते। तो ऐसे ही मिथ्या ज्ञान में भी यही बात है कि वह कुछ न कुछ अंश में सही बात बतलाता है। जैसे पीलिया रोग वाले ने जाना तो शंख को पीला, मगर शंख पदार्थ इतना तो उसने सही जाना ना। अब पीला रूप है, यह बात यदि झूठ हो गई तो क्या सारी बात झूठ हों गई? किसी ने दूर से सीप में चांदी का ज्ञान किया कि थी तो सीप और जान गए चाँदी, उल्टा ज्ञान हुआ तो वहां मिथ्या ज्ञान है। वह चांदी है, ऐसा, ज्ञान करना अप्रमाण है, मगर जो सफेद-सफेद नजर आया, क्या वह भी झूठ है? जो वहाँ कुछ सफेद समझा में आया, कुछ आकारसा समझा में आया यह तो झूठ नहीं है। वह चाँदी है, इस प्रकार अन्य पदार्थ में अन्य प्रकार का, अन्य प्रकार की सत्ता का बोध किया, यह अप्रमाण है। जैसे कोई पुरुष बड़े सबेरे कुछ अंधेरे में घूमने जाता है। अब उसे रास्ते में बहुत दूर से एक ठूठ खड़ा दिख गया, कोई ६-७ फिट का ऊँचा तो उस छुटपुटे में ठूठ दिखने से ऐसा उसने भ्रम कर लिया कि यह कोई आदमी खड़ा है। खड़ा तो था ठूठ और ज्ञान बन गया कि यह आदमी खड़ा है तो बोलो वह ज्ञान तो मिथ्या है ना? आदमी की तो नहीं है, विपरीत ज्ञान है, पर इस ज्ञान के समय में भी कुछ इतना ऊँचासा खड़ा, इतना मोटासा पदार्थ है यह ज्ञान भी झूठा है क्या? यह ज्ञान तो सही है। तो सभी ज्ञानों में हम आपके चाहे मिथ्या ज्ञान हों, चाहे सम्यग्ज्ञान हों, सभी ज्ञानों में यह बात पायी जाती है कि कुछ तो उसमें अच्छापन है?

प्रामाण्य व अप्रामाण्य के व्यवहार के आधार का विवरण—उक्त चर्चा सुनकर अब शङ्काकार कहता है कि तुमने तो सब कुछ मचा डाला। कुछ व्यवस्था ही न रही। शङ्काकार कहता है आचार्य से कि आपने तो सबको एक

लाठी से हांक डाला । मिथ्याज्ञान हो तो, सम्यग्ज्ञान हो तो सबको एकसा ज्ञान बना दिया कि जितने ज्ञान होते हैं वे सब ज्ञान कोई न कोई अंश में तो सच्चे ही होते हैं, चाहे मिथ्याज्ञान हो, चाहे सम्यग्ज्ञान हो तो ऐसा बोलने में समझने में तो सारे व्यवहार खत्म हो जायेंगे । यह ज्ञान झूठा है, यह ज्ञान सच्चा है, यह व्यवहार ही फिर न रहेगा और जब प्रामाण्य व्यवहार न मिला तो प्रवृत्ति भी न रहेगी, अर्थक्रिया भी न रहेगी, काम-काज भी न बनेगा, और कुछ मिलेगा भी नहीं । इसलिए ऐसा कहना तो ठीक नहीं जंचता । तो आचार्य उत्तर देते हैं कि सुनो जो बात जहाँ जो सही है उसे तो डटकर बोलना ही चाहिए । प्रत्येक ज्ञान कुछ न कुछ अंश में प्रमाणरूप होता है । अगर न हो तो वह ज्ञान ही नहीं बन सकता । अब रही हमारे व्यवहार की बात, सो सुनो—व्यवहार जो होता है कि यह प्रमाण है और यह अप्रमाण है, ऐसा जो प्रमाणपने का व्यवहार है वह प्रयोजन और सम्वाद के अधीन होता है अर्थात् जिस ज्ञान में विसम्वाद अधिक है वह है अप्रमाण । प्रमाण—जैसे सीप को चाँदी जान लिया तो यह जो सफेद दिखा वह प्रमाण है, मगर यह चाँदी है, यह अप्रमाण है । तो जरा यह बतलाओ कि तुम सफेद पर दीवाने बन रहे हो कि चाँदी पर? तुम्हारे दिल में क्या मुराद है? तुम चाहते क्या हो? तुम्हारा प्रयोजन क्या है? तुम सफेद-सफेद देखकर खुश होना मंजूर करते हो या चाँदी तुम्हारे हाथ में आये यह मंजूर करते हो? तो वे कहेंगे हमें तो चांदी हाथ में लेना मंजूर है । सफेद-सफेद देखने से क्या मतलब? तो तुम्हारा जो प्रयोजन है उसमें तो वह ज्ञान झूठा है, इसलिए अप्रमाण है । दूसरी बात उसमें विसम्वाद की मात्रा अधिक है । सफेद की मात्रा का प्रयोजन ही नहीं । इसलिए अप्रमाण है । जहाँ विसम्वाद विशेष हो वह अप्रमाण और जहाँ सम्वाद विशेष हो वह प्रमाण । प्रमाणता अप्रमाणता का व्यवहार इस प्रकार है ।

प्रमाण व अप्रमाण नाम रखे जाने का कारण—भैया ! इस बात पर मत घबड़ाओ कि यहाँ जो यह बताया जा रहा कि चाहे कितनासा भी झूठा ज्ञान हो, कोई न कोई अंश में उसमें भी सच्चाई है । यदि कोई शत्रु है तो उसमें कोई न कोई गुण है तो उस गुण से भी मुकर जायें, यह तो कोई विवेक नहीं, न सञ्चनता है । मिथ्या ज्ञान है, अप्रमाण है । और फिर अर्थक्रिया नहीं बनती और न उसके विषय की प्राप्ति होती है, इसलिए अप्रमाण है । मगर उस काल के लिए तो जितने अंश के लिए कुछ बोध हो उसमें भी कुछ अंश तो प्रमाण है तथा स्वरूप में तो प्रमाण है ही, मगर वह प्रमाण न कहा जायेगा, क्योंकि उसमें प्रयोजन सिद्ध नहीं है । उसके खिलाफ ज्ञान है और विसम्वाद अधिक है । और फिर दूसरी बात थोड़ी देर में पास जाकर देखा तो सीप नजर आयी तो निर्णय हो गया कि उसका ज्ञान बिल्कुल झूठा था । तो प्रमाणपने का व्यवहार अनेक सम्वाद के अधीन है । हमने भी जाना और वहाँ पास बैठे हुए जो लोग हैं वे भी ऐसा ज्ञान लें तो समझो कि प्रमाण है अथवा उसके बारे में ज्ञाता की अर्थक्रिया बन जाये कि उठा लें, हम जेब में रख लें तो समझो कि प्रमाण है, पर यह व्यवहार कुछ नहीं बनता, इसलिए मिथ्या ज्ञान अप्रमाण है । जहाँ सम्वाद विशेष हो वह तो प्रमाण और जहाँ विसम्वाद अधिक हो वह अप्रमाण । इसी आधार पर प्रमाण और अप्रमाण का नाम रखा गया है । जैसे कि जिन फलों में रस अधिक है उनका नाम रसद्रव्य है, रस भरी मौसमी, नींबू आदिक ये रसद्रव्य कहलाते हैं । जिनमें गंध अधिक हो वे गंधद्रव्य कहलाते । जैसे हींग, कस्तूरी आदिक । हैं तो उनमें बहुत बातें—रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक सब, मगर एक ही नाम क्यों लिया गया? वह विशेष है, उसकी प्रमुखता है, । ऐसे ही जहाँ

सम्बाद विशेष है वह प्रमाण और जहाँ विसम्बाद विशेष हो वह है अप्रमाण ।

दार्शनिकों में निष्पक्ष निर्णयकता—देखो यहाँ दार्शनिक आचार्यों की कितनी निष्पक्षता है? जैसे किसी माता को सपूत और कुपूत दोनों में स्नेह है और दोनों में गुण दिखता है, ऐसे ही प्रमाण और अप्रमाण ज्ञान—इन दोनों में वह गुण की बात बतायी जा रही है । एक अप्रमाण है, एक प्रमाण है । फिर भी यह जानें कि कितना ही अप्रमाण ज्ञान हो वह अपने आप में तो प्रमाणभूत है और बाह्य विषयों के बारे में अप्रमाणभूत है । तो एक न्यायविधि से अनुमान प्रमाण की मुद्रा में इस बात को रख रहे कि सम्यग्ज्ञान में ही प्रमाण का व्यवहार होता है, क्योंकि वहाँ ही अनेक सम्बाद पाये जाते हैं । सम्बाद का अर्थ समझे, क्या? हम भी जानें, और भी जानें वैसा ही । और उस ही चीज को फिर और-और ज्ञानों के द्वारा भी वैसा ही जानें इसे कहते हैं सम्बाद । जिस चीज को जाना, उसके लिए हमारा पौरुष बने, अर्थक्रिया बने, आकर्षण बने या हटना बने, कुछ काम बने उसे कहते हैं सम्बाद । जिस वस्तु को हम जाने उस वस्तु को ग्रहण कर सकें उसे कहते हैं सम्बाद । तो जहाँ सम्बाद अधिक है वहाँ प्रमाणता का व्यवहार होता है । और इस तरह का प्रमाण सत्य ज्ञान ही हो सकता है, मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता है । अब इस अप्रमाण की मुद्रा तको । जो झूठा ज्ञान है उसमें अप्रमाणता का व्यवहार होता है, क्योंकि वहाँ विसम्बाद बहुत पाये जाते हैं । न वहाँ अर्थक्रिया बनती है और न वहाँ चीज मिलती है और न वहाँ बाधकप्रमाण का अभाव है, इसलिए अप्रमाण है ।

मति श्रुतज्ञानों में सर्वथा प्रामाण्य व सर्वथा अप्रामाण्य की असिद्धि—अब उक्त व्यवस्था बताने के बाद उन दार्शनिकों के लिए आपत्ति देते हैं । जो दार्शनिक यह मानते हैं कि कोईसा भी ज्ञान हो जो प्रमाण है सो प्रमाण ही है । जो अप्रमाण है सो अप्रमाण ही है । एक देश वाली बात कुछ नहीं है । तो देखो—जो ऐसा माने कि सम्यग्ज्ञान तो पूरे अंश में एकान्तरूप से प्रमाण ही है और मिथ्याज्ञान सर्व अंशों में पूरा अप्रमाण ही है । ऐसा जो कहें वे जरा यह बतायें कि मिथ्याज्ञान के बारे में अगर यह निर्णय बनाया है कि यह मिथ्या ज्ञान है तो बताओ कुछ प्रमाणपना आया ना? अरे झूठ बोलने वाला खूब झूठ बोले और अपने मुख से कहे कि मैं झूठ बोलता हूँ तो इतनी तो उसकी सच्चाई मानोगे कि नहीं मानोगे? भले ही कोई बिल्कुल झूठ बोल रहा हो, सारा का सारा झूठ बोल रहा हो, मगर वह यह कह दे कि मैं झूठ बोलता हूँ तो उसका इतना अंश भी क्या सच्चा नहीं हो सकता? मिथ्याज्ञान से हमने बाहर में जाना कि यह चाँदी है, पड़ी थी सीप, तो जब यह जान रहा है ज्ञान तो उसकी निगाह में ज्ञान है, जान रहा है, समझता है, ऐसा जान रहा हो तो उस ज्ञान के स्वरूप में तो वह प्रमाण है ना? बाह्य वस्तु के बारे में अप्रमाण है, क्योंकि वहाँ सीप ही है, चाँदी नहीं है और जाना चाँदी । देखो—दार्शनिक लोग कितने निष्पक्ष होते हैं, ऐसे निष्पक्ष जैसे कि कोई राजाओं की कहानी आती है कि पुत्र भी अगर अन्याय करे तो उसे भी शूली पर चढ़ा देते हैं और शत्रु भी अगर कोई गुण का काम करे तो उसे अपना सर्वस्व बना लेते हैं । इसी तरह की निष्पक्षता दार्शनिक विद्वानों में होती है । जैसे आजकल के भी दार्शनिक लोग किसी तत्त्व की खोज करते हों तो खोज करते-करते यदि उसके कुल के मजहब के भी दोष की बात आये तो उसे सामने रखने में वे चूकते नहीं हैं । दार्शनिक लोग कितने निष्पक्ष हुआ करते हैं? यदि इतनी निष्पक्षता न हो तो उनमें दार्शनिकता का विकास हो ही नहीं सकता । इतना स्पष्ट कहा गया है । फिर भी हम

आपके ज्ञान अपने प्रायोजनिक अंशों में प्रमाण हैं। सर्व अंशों में प्रमाणता का दावा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मिथ्याज्ञान प्रायोजनिक अंश में अप्रमाण हैं। फिर भी उसमें सर्वप्रकार से अप्रमाणता नहीं लादी जा सकती, स्वरूप में तो प्रामाण्य है ही। अब रही प्रमाणपने की बात और अप्रमाणपने का व्यवहार तो वह व्यवहार सम्बाद और विसम्बाद के आधार पर है। जहाँ अनेक सम्बाद हों वह तो है प्रमाण और जहाँ अनेक विसम्बाद हों वह है अप्रमाण।

आन्तरिक आत्मचर्चा में असुगमता का अटपटापन—यह चर्चा किसी दूसरे की नहीं चलायी जा रही है। यह सबकी अपने आपके भीतर के स्वरूप की चर्चा है। हम सब ज्ञानस्वरूप हैं और पर्याय बिना कोई द्रव्य एक क्षण भी ठहर नहीं सकता। निरन्तर प्रति समय पर्याय होती ही रहती है। तो ज्ञानस्वरूप निज पदार्थ में कैसी परिणतियां चला करती हैं उन परिणतियों की बात कहीं जा रही है कि हम आपके जो ज्ञान की वृत्ति चलती हैं वह इस तरह से प्रमाणभूत है और अप्रमाणभूत है। जहाँ सम्बाद विशेष है वह प्रमाण और जहाँ विसम्बाद विशेष है वह अप्रमाण कहलाता है। जरा उपयोग लगाकर सुनो तो विषय कुछ कठिन नहीं लगता। यह भीतर के ज्ञान की चर्चा की जा रही है। अपनी चर्चा की जाये तो कैसा जल्दी कान खड़े हो जाते हैं और जहाँ अपने भीतर की चर्चा चल रही हो वह बात क्यों न समझ में आयेगी? तत्प्रमाणे—इस सूत्र में जो सामान्यतया कहा कि वह ज्ञान प्रमाणरूप है उसका ही यह विश्लेषण चल रहा है।

स्वसंवेदन और अर्थसंवेदन के प्रकरण का स्मरण—अपने आत्मा के ज्ञान का विकास देखते जावो। दार्शनिक शास्त्र और करणानुयोग ये बहुत सूक्ष्म तत्त्व का वर्णन कराते हैं। अभी तक सिद्धान्त में सुनते आये ना कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्ष हैं, अवधिज्ञान; मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये प्रत्यक्ष हैं। तो अब देखो प्रत्यक्षज्ञान में तो कुछ कहना नहीं है, वह तो भली प्रकार प्रत्यक्ष है, स्वसंवेदन में भी, और अर्थसंवेदन में भी पर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के अन्दर यह निरखें कि ये क्या परोक्ष परोक्ष ही हैं या प्रत्यक्ष भी हैं? दूसरी बात—जो पहले चले आये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान प्रमाण हैं और जरा उनमें यह भी देखें कि क्या सर्वथा प्रमाण है, या कुछ अप्रमाण भी हैं? देखो दार्शनिक शास्त्र से जो निर्णय बनेगा और उसके सूक्ष्म तत्त्व का परिचय पायेंगे तो एक बार अब तक की मानी हुई बात में क्रान्तिसी मच जायेगी पर क्रान्ति नहीं होना, आचार्य संतों की वाणी निर्दोष है। कहते आये ना कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान प्रमाण हैं, पर देखो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अपने नियत विषय में एक देशप्रमाण हैं, पर अन्य विषय में अप्रमाण हैं। तो व्यवहार कैसे बना? प्रमाण है कि अप्रमाण? जहाँ प्रयोजन में बाधा न हो, सम्बाद अधिक हो वह है प्रमाण। जो प्रयोजन से दूर हो या जिसमें विसम्बाद हो वह है अप्रमाण। तो अब आज एक नई चर्चा सुनो—बात कहेंगे आपकी, हम आप लोग जो जानकारी किया करते हैं उस जानकारी में दो बातें होती हैं—(१) स्वसम्वेदन और (२) अर्थसम्वेदन। जैसे जाना कि यह चौकी है तो चौकी का ज्ञान हुआ और जिस ज्ञान से जान रहे उस ज्ञान का भी ज्ञान चल रहा। तो जिस जान से जान रहे उस ज्ञान के ज्ञान का नाम तो है स्वसम्वेदन और उसमें जो बाहरी पदार्थ जाने जा रहे हैं उसका नाम है अर्थसम्वेदन। हम आपके ज्ञान की दो पद्धतियां हैं। एक तो पदार्थ को जानना और जिस ज्ञान के द्वारा जानते इस ज्ञान का भी ज्ञान बना रहना। अपने आपके भीतर में कुछ दृष्टि देकर अनुभव से निर्णय कर लें। होते हैं ना ये दो

काम? तो जिस ज्ञान के द्वारा हम जानते हैं उस ज्ञान के ज्ञान होने का नाम है स्वसम्बेदन और उसमें जो बाहरी पदार्थ जाने जाते हैं उसका नाम है अर्थसम्बेदन।

स्वसंबेदन व अर्थसंबेदन के विषय में प्रत्यक्षता परोक्षता प्रमाणता अप्रमाणता के विषय में समस्याओं का समाधान—स्वसंबेदन और अर्थसंबेदन के विषय में दार्शनिकों की दो राय हैं—एक दार्शनिक यह कहता है कि जिस पदार्थ को जाना याने अर्थसम्बेदन हुआ वह तो साफ स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है और जिस ज्ञान के द्वारा जाना याने स्वसम्बेदन यह परोक्ष होता है, यह जानकारी में नहीं रहता। तो दूसरा दार्शनिक कहता है कि नहीं-नहीं, जिस ज्ञान के द्वारा जाना जाता है वह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है और जो जाना जाता है उस पदार्थ का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता, वह परोक्ष है। तो हैं ये दो रायें, मगर सिद्धान्त क्या है कि सभी ज्ञान अपने स्वरूप सम्बेदन में प्रमाणभूत हैं, प्रत्यक्ष हैं, स्पष्ट हैं और बाह्य पदार्थों के ज्ञान के सम्बन्ध में कोई ज्ञान प्रत्यक्ष है, कोई ज्ञान परोक्ष है। जैसे—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। सिद्धान्त में दो बातें सुनते तो आये सब लोग कि दो ज्ञान परोक्ष हैं, तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं, पर यह बात न समझ सके दर्शनशास्त्र के अध्ययन बिना कि सभी ज्ञान अपने स्वरूप की समझ में प्रमाण हैं प्रत्यक्ष हैं, स्पष्ट हैं दो प्रमाणरूप का वर्णन अर्थसंबेदन की अपेक्षा से है। अब उनके बारे में एक-एक विकल्प का समाधान देखिये। यदि सर्वज्ञानों को स्वरूप में अप्रमाण मान लिया जाये, जैसे कि बौद्ध शङ्का करते हैं, तो कहते हैं कि इसमें तो उनके दर्शन में ही विरोध आ गया, क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि समस्त आत्माओं का ज्ञान आत्मसम्बेदन में प्रत्यक्ष होता है ‘‘सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंबेदनं प्रत्यक्षम्’’ आप एक बात और सुनो—बतलावो जो स्वानुभव होता है ना ज्ञान में ज्ञान का समा जाना और उस ज्ञान का अपने ज्ञान में स्पष्ट होना, जिसे आत्मानुभव कहते, स्वानुभव कहते, बतलावो वह प्रत्यक्ष है कि परोक्ष? अब समस्या है तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष तो यों नहीं कह सकते कि अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान—ये तीन माने गए हैं प्रत्यक्ष, किन्तु मति, श्रुत तो नहीं माने गए प्रत्यक्ष, उन्हें कहा है परोक्ष, सो यों नहीं कह सकते कि वह स्वानुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है तथा स्वानुभव को परोक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वानुभव इन्द्रियमन से उत्पन्न होता नहीं। इन्द्रिय और मन से जो उत्पन्न हो सो परोक्ष है। क्या उत्तर देंगे? भाई निकटता की अपेक्षा तो परोक्ष है क्योंकि मति, श्रुत की धारा में ही चलकर वह हमारा स्वानुभव बना, लेकिन साक्षात्, वर्तमान, क्षण की अपेक्षा प्रत्यक्ष है और उसही जैसी इन्हाँकी इस प्रकरण में आ गयी कि सभी ज्ञानस्वरूप के संबेदन में तो प्रत्यक्ष है, प्रमाण है और बाह्यपदार्थों के ज्ञान में कोई परोक्ष है, कोई प्रत्यक्ष है, कोई प्रमाण है, कोई अप्रमाण है। यदि सभी ज्ञानों को स्वरूप में भी अप्रमाण या परोक्ष मान लिया जाये तो उनके ही मत का सिद्धान्त है।

स्याद्वाद के आश्रय बिना सच होकर झूठ—स्याद्वादशासन एक ऐसा हितकारी शासन है कि जो इस जीव को सुरक्षित धाम में पहुंचा देता है। ज्ञान के विषय अनेक हैं, पर कोई विषय ऋजुसूत्रनय का है, कोई विषय व्यवहारनय का है, कोई विषय द्रव्यार्थिकनय का व कोई शुद्धनय का है। मुख्य तीन चार बातें यहाँ बतला रहे। किसी भी नय का एकान्त कर लिया गया तो उस नय की बात सच होकर भी झूठ हो जाती है। जैसे, ऋजुसूत्रनय का विषय यह है कि प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है, अहेतुक है, वह पूर्वपर्याय से उत्पन्न नहीं होता है। यह विषय ऋजुसूत्रनय का है और ऋजुसूत्रनय जैनसिद्धान्त का ही एक अङ्ग है—यह बात ऋजुसूत्रनय से सत्य

है। लेकिन जब इसका प्रतिपक्षीनय जो है व्यवहारनय, द्रव्यार्थिकनय उसका विरोध अगर करें, सर्वथा ही ऐसा मानें और कहें कि संतान नहीं है, ऐसा ही है, पूर्वपर्याय से कुछ मतलब नहीं, स्वतंत्र हैं तो यह बन गया मिथ्यात्व और यह सिद्धान्त बन गया खुद बौद्धों का। बौद्धों का यह सिद्धांत है ऐसा कि प्रतिसमय का जो पदार्थ है, वह अहेतुक है, उसका पूर्व पदार्थ से मतलब नहीं। देखो सर्वथा ही ऐसा हो याने अगर पर्याय स्वतंत्र हो तो उसमें छः साधारण गुण होने चाहिए यह तो कायदे की बात है। इसमें यह तो अ आ इ ई से सिखायी जाने वाली बातें हैं सो यह तो कोई कठिन बात नहीं। जो स्वतंत्र द्रव्य है, इसमें ६ साधारण गुण होते हैं—यह तो समझ में आना कोई कठिन नहीं। तो पर्याय अगर स्वतंत्र पदार्थ हैं तो उसमें अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व और प्रमेयत्व, ये गुण पाये जाते हैं क्या? जैनसिद्धान्त का यह क्रम है कि भक्तिपूर्वक यदि बच्चा भी सीखे तो उसे कहीं धोखा नहीं हो सकता। बोलो है क्या पर्याय प्रदेशवान? बोलो है उसमें वस्तुत्व, द्रव्यत्व? जो गुण पर्यायवान हो सो द्रव्य है। अब बतलावो वह पर्याय गुणपर्यायवान है क्या? पर्याय में पर्याय है, गुण है क्या? हाँ यह क्रज्जुसूत्रनय से तो ठीक है। जैनसिद्धान्त ने इसका समर्थन किया है। पर इसकी हठ में वस्तुस्वरूप नहीं बनता। देखो यही तो है जैनभासों का बौद्ध दर्शन, जो सच होकर भी झूठ बन गया। वैशेषिक दर्शन में देखिये वैशेषिक यह कहते हैं कि द्रव्य स्वतंत्र है, गुण स्वतंत्र है, पर्याय स्वतंत्र है, सामान्य स्वतंत्र है, विशेष स्वतंत्र है। तो एक नय से अगर देखें तो स्वरूप एक का दूसरे में नहीं है। जो द्रव्य का स्वरूप है वह गुणपर्याय सामान्य विशेष का नहीं, जो गुण का स्वरूप है वह द्रव्यपर्याय सामान्य विशेष इनका नहीं। जो सामान्य का स्वरूप है सो विशेष आदि का नहीं। अरे विशेष का स्वरूप है सो शेष का नहीं। यों भेद तो आ गया। ये ५ चीजें हैं, मगर कोई सर्वथा भेद करे तो वही आपत्ति आयेगी कि जैसे द्रव्य में ६ साधारण गुण हैं तथा गुणपर्यायवत्ता है, ऐसे ही गुण में भी बताओ, पर्याय में भी बताओ, सामान्य और विशेष में भी बताओ। हैं तो नहीं इन प्रत्येक में गुण व पर्याय। तो देखो ये ५ बातें हैं जो भेददृष्टि से सच हैं, पर प्रतिपक्षनय का विरोध करने से सच भी झूठ बन गया। यह ही है व्यवहार का विषय जो बताया। व्यवहार भेद करता है और द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष—ये भेद करना व्यवहार का विषय है। इसी का एकान्त कर लिया और अभेदनय का आश्रय न लिया तो काम न बनेगा। वस्तुस्वरूप परिचय में इतनी संकरी गली है जैनसिद्धान्त की कि परम्परया गुरुचरणों के प्रसाद बिना इनका मर्म नहीं समझ में आता।

स्वरूपसंवेदन में ज्ञान के प्रमाणत्व का नियम तथा विकल्पज्ञान में प्रमाणत्व की भाज्यता—प्रकृत बात यह कह रहे हैं कि हम आप सबका ज्ञानस्वरूप के सम्बेदन में तो प्रमाण है और बाह्यपदार्थ के परिचय में कोई प्रमाण है, कोई अप्रमाण है। यदि स्वरूपसंवेदन में अप्रमाण मान लिया जाये तो अनुभव से विरोध है। फिर अर्थ क्रिया न बन सकेगी और शङ्काकारों के मत से भी दूर है यह कथन। अब दूसरी बात लीजिए—अगर बाह्यविकल्प ज्ञान में, बाह्यपदार्थ के ज्ञान में उसे पूरा प्रमाण मान लिया जाये तो कितने ही प्रमाण मानने पड़ेंगे। बौद्ध जन कहीं अन्य जगह से नहीं उत्पन्न हुए, ये स्याद्वाद (जैनशासन) से ही उत्पन्न हुए। कोई जमाना था ऐसा कि केवल एक ही दर्शन था स्याद्वाद और उसका ही सहारा लेकर सर्व साधु-संन्यासी जन अपने ब्रह्मस्वरूप का अनुभव करते थे, पर उसके प्रतिपादन में जिसने जहाँ अपनी अटक कर ली, वहीं हठ कर ली और फिर अनेक

दार्शनिकों की उत्पत्ति हुई। यहाँ क्षणिकवादी शङ्काकार कहता है कि बाह्य पदार्थ में जो ज्ञान होता उसका नाम है विकल्पज्ञान और विकल्पज्ञान को मान लिया तुमने प्रमाण। तो जितने मिथ्याज्ञान हैं वे सब प्रमाण बन जायेंगे। जैसे मिथ्याज्ञान स्वरूप में प्रमाण है उसी प्रकार पदार्थ में भी प्रमाण हो जाये। क्या शङ्काकार का मतलब? जैसे पड़ी तो थी सीप और ज्ञान गए चाँदी तो यहाँ जो बोध चल रहा है कि चाँदी है, यहाँ के ज्ञान का ज्ञान हो रहा है ना। तो जैसे ज्ञान का ज्ञान करने में हम प्रमाणता लाते हैं इसी प्रकार वहाँ चाँदी का ज्ञान भी प्रमाण मान लो, यह शङ्काकार कहता है। यह क्षणिकवादी कह रहे हैं। समाधान सोचो कि यदि बाह्य अर्थविषयक मिथ्याज्ञानरूप विकल्पज्ञान के प्रमाण मान लिया जाये तो बताओ बौद्धों ने दो प्रमाण माने ना, प्रत्यक्ष और अनुमान। अगर प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हो तो उनके मत में कहा है कि जो कल्पना से रहित हो, भ्रान्तिरहित हो वह प्रत्यक्ष है, तो प्रत्यक्ष का लक्षण यह है। किन्तु विकल्पज्ञान में यह लक्षण घटित नहीं होता। अगर अनुमान बताओगे तो इन्द्रिय से जितने ज्ञान होते वे अनुमान बन जायेंगे। फिर साधनसाध्य की कल्पना करना व्यर्थ है। सीधी बात है। हम जानते हैं कि यहाँ जो ज्ञानने का परिणमन होता है वह तो हमारे ख्याल में स्पष्ट है और बाह्य पदार्थों में हम जैसा जानते हैं वैसा हो या न हो। देखो एक ही मान प्रमाणरूप भी है और अप्रमाणरूप भी है। स्याद्वाद से मिला लो, लेकिन समानता से नहीं समझना इन दोनों को कि प्रत्येक ज्ञान जितना प्रमाण रूप है उतना ही अप्रमाण रूप है। दृष्टियां हैं, किसी में प्रमाणता अधिक है, अप्रमाणता कम है और किसी में अप्रमाणता अधिक है, प्रमाणता कम है। जहाँ अप्रमाणता अधिक है उसे कहते हैं अप्रमाण और जहाँ प्रमाणता अधिक है उसे कहते हैं प्रमाण।

भूयःसंवाद के आधार पर प्रामाण्य के व्यवहार की व्यवस्था—यह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की बात चल रही है। जितने आदमी यहाँ बैठे हैं कोई बता सकता है क्या कि इनमें कोई आदमी बिल्कुल स्वस्थ है? एक भी रोगी न हो ऐसा यहाँ कोई है क्या? कम से कम यहाँ बैठे हुए लोगों में से इतना तो तय है ना कि इनमें कोई ऐसा नहीं बैठा कि जो पूर्ण स्वस्थ हो, एक भी रोग न हो। फिर भी इनमें कुछ इतनी छटनी करते कि नहीं कि यह रोगी है, यह निरोग है? कहने लगते ना इसी आधार पर कि जिसमें रोग की मात्रा अधिक है वह रोगी है और जिसके रोग की मात्रा कम है वह निरोगी है, ऐसा भेद बनाना, व्यवहार बनाना, किन्तु यह परख लो, सबमें कोई न कोई रोग जरूर है। शरीर में जितने रोम हैं उतने रोग हैं। अभी सिर के बाल ही गिनकर देख लो—सारे रोम, उनसे भी अधिक रोम हैं, इतने रोग है शरीर में, पर जिसमें रोग कम है, स्वस्थता की मात्रा अधिक है वह कहलाता है स्वस्थ और जिसके रोग की मात्रा अधिक है वह कहलाता है रोगी। तो ऐसे ही यह हमारा कमजोर ज्ञान भी प्रमाण बन गया। हम दावे के साथ किसी ज्ञान को नहीं कह सकते कि हमारा ज्ञान सर्व अंशों में प्रमाणभूत है। सम्बाद अधिक है तो प्रमाण, नहीं है तो अप्रमाण। अब देखो कितनी मूढ़ता है कि अपने ही मन में सोचकर—हम जैसा कौन बुद्धिमान है और टन्नाये से बैठे हैं। कितने ही लोग, यहाँ तक कि बड़े-बड़े विद्वान तक ऐसे हैं कि जो अपने आगे सारे जगत को तुच्छ समझते हैं। तो दार्शनिक शास्त्र का अध्ययन करे उससे यह ज्ञान हो जाता कि हममें अभी कितनी गलतियां हैं, कितना हमको आगे बढ़ना है?

अपने ज्ञान को पूर्ण मानने के भ्रम के आधार पर गर्व का नाटक—देखो हर जगह एक धर्म के मार्ग की ही

बात नहीं कहते । लोक में भी थोड़ी विद्या किसी ने जान लिया और वे समझते हैं कि हम सबसे अधिक होशियार हैं, वे अपने आगे किसी को कुछ नहीं समझते । एक संगीत की ही कला ले लो, कोई संगीत जरासा सीख जाये, उससे गाने को कहा जाये तो वह एक दो बार के कहने से नहीं गाता । उसे तो बहुत से लोग बारबार मनाये, जिसे कहते हैं तैल लगाना, तब कहीं वह गाता है । एक संगीत की ही बात नहीं, सारे लौकिक कार्यों की यही बात है । धर्म की चर्चा वालों की भी यही बात है । कोई ब्रत उपवास करे तो वहाँ भी वह अपने को सबसे अधिक होशियार समझता है । तो क्या कोई एक रोग लगा है? अनेक रोग लगे हैं । जो अपने मन में समझ बैठा है कि मैं पूर्ण समझदार हूँ, मेरे समान समझदार कोई नहीं, तो वे कितना अपने प्रभु पर अन्याय कर रहे हैं? उन्होंने अपने को तो समझा विवेकी और दूसरे प्रभुओं पर घृणा करते हैं तो यह जो दूसरे प्रभुओं का अनादर करना है और अपने संयुक्ता अनादर करना है । अरे यहाँ पर जितने भी अन्य जीव हैं, जितने अन्य मनुष्य हैं उनमें ज्ञान नहीं है क्या? अरे दूसरों का आदर करने की अपनी आदत बनावें, सबके ज्ञान की आस्था बनावें । कोई-कोई बात तो जो पढ़े लिखे नहीं हैं वे भी इतनी ऊँची कह देते हैं कि जो हमारे लिए बड़ी शिक्षाप्रद होती है । और समझो जो जानता भी अधिक नहीं, कुछ बोल भी नहीं सकता, मगर अच्छे आचरण से रहता है तो वह हम जानने वालों से भी अच्छा है । हम कैसे कहें कि ये कुछ नहीं, वे तुच्छ हैं? कहाँ आप निर्णय बनाते हो? हमेशा यह आदत बनाओ कि अपने तो दोष तको और दूसरों के गुण तको, अगर उन्नति मार्ग में चलना है तो । यह व्यवहार की बात कह रहे हैं । सभी की बात यही है कि अपने में जो सहज ज्ञानस्वभाव है उसकी श्रद्धा बनावें और **उससे** अपनी सम्पन्नता का अनुभव करें । किन्तु जब कोई प्रवृत्ति व्यवहार करे तो **व्यवहार प्रवृत्ति** हमारी सर्वप्राणियों में आस्थामयी होनी चाहिए । अयं परो वेति गणना लघुतेसां । यह मेरा है, यह दूसरे का है, ऐसी बुद्धि होना बहुत तुच्छ हैं? उदारचरित्र वाले की बात है। नीति कहती है—‘उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकं’ जो उदारचरित्र वाले पुरुष हैं, उनकी सारी वसुधा कुटुम्ब होती है। मनुष्य भव पाया है तो भीतर सब जीवों के स्वरूप को निरखकर, उनमें समरस बनकर सारे कष्टों को दूर करें। नहीं है कष्ट दूर करने का। केवल एक समता ही उपाय है। तो भैया! व्यवहार स्पष्ट, सबके आदररूप बनावें और श्रद्धा बनावें तो अपने आपमें गुप्त हो जाने के ऐसा संकुचित होकर तो काम करें। तो यहाँ आत्मस्वभाव पर श्रद्धा बनाकर वहाँ तो बनाना है यह श्रद्धा कि ये मेरे हैं, ये गैर हैं, ये विरोधी हैं, ये व्यवहार बनाना चाहिए सब पर समान, सबको आदर देकरा। व्यवहार आदमियों को अपना सर्वस्व मानकर, उनमें ही प्रीति के वचन बोलकर व्यवहार बनाते हैं, तो यह उल्टा काम है ना? व्यवहार बनावें तो सब पर आस्था रखकर बनावें और संकुचित हों तो अपनी कषायों से भिन्न, विकल्प से निराला, अपने सहजे अस्तित्व के कारण जो सहज स्वरूप है उसमें यह मैं हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ, इतनी दृढ़ पकड़ बांध लें । देह मैं नहीं, कषाय मैं नहीं, विकल्प मैं नहीं, कोई तरंग मैं नहीं । मैं तो एक सहज ज्ञान स्वभावमात्र हूँ । जब इसके अनुरूप पर्याय होगी तो यह स्पष्ट सामने आयेगा । यहाँ तो हम अभी बुद्धि युक्ति अनुभूति अंतर्दृष्टि से इस परमात्मा का परिचय पा लें ।

स्वरूपसंवेदन में ज्ञान की प्रमाणता का उपसंहार—देखो ज्ञान मिथ्या भी है तो भी स्व ससम्बेदन में प्रमाण है । और बाह्यपदार्थ के परिचय में वह उल्टा है, जैसा जाना उससे उल्टा है । यों समझो, जैसे एक सरस शब्द

है, इसका उल्टा करो तो वह सरस ही बन गया तो सम्वेदन में ज्ञान सरस है, उल्टा भी ज्ञान है, वह भी स्वरूपसम्बेदन में सम्यक् है और अर्थसम्बेदन में जैसे एक शब्द है साक्षरा मायने जो अक्षर सहित है, उसका उल्टा करो तो हो गया राक्षस । यह कितनी उल्टी बात हो गई? जो साक्षरा से उल्टा चले ऐसा राक्षस । तो बाह्य ज्ञान में अगर उल्टा है तो वह उल्टा ही है, अप्रमाण ही है । एक ज्ञान में प्रमाणपन और अप्रमाणपन—इनका विरोध नहीं । इसी तरह एक ज्ञान में प्रत्यक्षपना और परोक्षपना—इनका भी विरोध नहीं । हमारा मति श्रुतज्ञान स्वरूप सम्बेदन में प्रत्यक्ष है और अर्थसम्बेदन में परोक्ष है । चूंकि एक मोक्षशास्त्र का विषय है और तत्त्व का ही परिचय कराता है तो अर्थसम्बेदन की ही तो मुख्यता है, इसलिए परोक्ष, प्रत्यक्ष ये दो भेद किए गए हैं । स्वरूपसम्बेदन की अपेक्षा समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रमाण हैं, यह बात एक विशेष कही गई है ।

एक ही ज्ञान में प्रमाणता, अप्रमाणता, प्रत्यक्षता व परोक्षता में अविरोध का दर्शन—यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि हम आपके होने वाले ज्ञान किसी अंश में प्रमाणरूप है, अन्य और अप्रमाण हैं, किसी अंश में प्रत्यक्षरूप हैं और किसी अंश में परोक्षरूप हैं, जिसका विवरण बहुत हो चुका है। सम्यग्ज्ञान, मतिज्ञान अपने नियत विषय में एक देश प्रमाण है, पर उनका विषय नहीं अथवा नियत के अन्य अंशों में प्रमाण नहीं, किन्तु जिसके अभिमुख विषय में प्रमाण है। इसी प्रकार हमारा सम्यग्ज्ञान हो चाहे मिथ्याज्ञान हो, सभी स्वरूप के सम्बेदन में प्रत्यक्ष हैं। ज्ञान अपने स्वरूप के सम्बेदन में प्रत्यक्ष है, किन्तु सम्बेदन में कोई ज्ञान प्रत्यक्ष है, कोई ज्ञान परोक्ष है। तो यहाँ बताया गया कि प्रत्यक्षपना और परोक्षता रहने में कोई विरोध नहीं, क्योंकि ज्ञान जो जानता को वह ज्ञान अपने आपके स्वरूप का सम्बेदन करने में प्रत्यक्ष है। जिस ज्ञान चौकी खम्भा आदिक ज्ञान रहे हैं तो ज्ञान रहे कुछ इन्द्रियों द्वारा, अब कौनसी इन्द्रियां काम दे रही हैं? जिस ज्ञान के द्वारा हम बाहरी रहता है, उसका ज्ञान नहीं । उसका भान न होगा और ज्ञेयाकार प्रत्यक्ष रहता है, और ये दार्शनिक इतना अधिक बढ़ गए कि इस ज्ञान में उठने वाले ज्ञेयाकार को ही बात नहीं कह रहे, किन्तु बाहर में रखे हुए पदार्थों की बात कह रहे हैं कि ये पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो जाते हैं, किन्तु यह ज्ञानाकार परोक्ष ही रहता है। तो एक दार्शनिक कह रहा था कि ज्ञेयाकार तो परोक्ष ही रहता है, किन्तु ज्ञानाकार प्रत्यक्ष रहता हैं, ऐसे दो दार्शनिकों की यहाँ समस्या है। अब यह शंका है क्षणिकवादी के सिद्धान्त की। अब इस पर विचार करो। उनका सिद्धान्त है कि केवल ज्ञानमात्र सम्बेदनमात्र से तो बुद्धि प्रत्यक्ष होती है और ज्ञेयाकार से रहितपना यह परोक्ष रहती है। वे सम्बेदनाद्वैतवादी कह रहे हैं जो ज्ञेयाकार को मानते ही नहीं, केवल एक ज्ञान ही ज्ञान तत्त्व है, अन्य कुछ तत्त्व नहीं। जैसे कि स्वभाव एकान्तवादी कहता है कि केवल स्वभाव ही स्वभाव तत्त्व है, पर्याय झूठ है। ऐसे ही बढ़ करके बौद्ध दार्शनिक कह रहे हैं कि ज्ञान ही मात्र ज्ञान ही वस्तु है, और ज्ञेयाकार याने जो जानना हो रहा है यह तत्त्व नहीं है। ज्ञान तो है, पर जानना नहीं होता। थोड़े शब्दों में यह इसका संक्षेप है। आप किसी के आगे यह बात रखें कि ज्ञान को तो हम सदा मानते, मगर वह जानता कुछ नहीं याने जो जानना है वह असत् है। तो इसे कौन मानेगा? अच्छा तो, अब विचार करो। बौद्धसिद्धान्त की दृष्टि से तो बुद्धि अपने सम्बेदन मात्र के लिए प्रत्यक्ष है और वह वेद्याकार से रहितपना मात्र वह ज्ञान जिसमें ज्ञेयाकार नहीं, ऐसी ज्ञेयाकार रहितता भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि ज्ञान का तो स्वरूप बनाया ना यह कि ज्ञेयाकार से रहित होता है। मात्र ज्ञान ही प्रतिभासमात्र तत्त्व

है। तो यह बतलावों कि जैसे ज्ञान का सम्बेदन प्रत्यक्ष हो गया, इसी प्रकार ज्ञेयाकार नहीं है, ऐसा अभाव भी प्रत्यक्ष हो गया ना? अगर प्रत्यक्ष हो गया तो सभी बुद्ध बन जायेंगे। सब सर्वज्ञ हो जायेंगे, क्योंकि ज्ञान का स्वरूप है मात्र सम्बेदन और वह है ज्ञेयाकार से रहित। और दोनों का हो गया प्रत्यक्ष, तो अब बुद्ध की अपेक्षा और जीवों में कौनसी कमी रह गई? सभी सर्वज्ञ हो गए। और यदि कहो कि नहीं, वेद्याकाररहितपना तो परोक्ष ही है तो जैसे वेद्याकारता न होना परोक्ष है इसी प्रकार स्वसम्बेदन भी परोक्ष हो गया। यों फिर तो बुद्ध भी जड़ बैन जायेगा। जैसे संसार को जड़ बताया, ऐसे ही यह बुद्ध भी जड़ हो जायेगा। तो हम चाहते कि प्रत्येक ज्ञान स्वरूपसम्बेदन में प्रत्यक्ष है और पराधीन ज्ञान अर्थसम्बेदन में परोक्ष है।

ज्ञानसंबेदन और वेद्याकाररहितता दोनों को एक मानने पर दोनों के प्रत्यक्षत्व की भाँति दोनों के परोक्षत्व का प्रसंग—ध्यान से सुनो—बात यह कही जा रही कि ज्ञान का स्वरूप शङ्खाकार का कैसा है कि मात्र ज्ञान ही ज्ञान है। उसमें ज्ञेयाकार नहीं होते। जैसे कि कोई कहे कि हम तो दर्पण का ऐसा स्वरूप मानते हैं कि उसमें केवल दर्पण दर्पणमात्र ही द्विलमिलाहट है, प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, इसी तरह की यह शङ्खा है। तो इसमें आपत्ति दी ना? तो इस आपत्ति को दूर करने के लिए फिर यह दार्शनिक कहता है कि भाई ये दो चीजें अलग-अलग नहीं हैं—ज्ञान का होना और ज्ञेयाकार का रहितपना होना, ये दोनों एक ही बात हैं। तब जैसे ज्ञानसम्बेदन प्रत्यक्ष है ऐसे ही ज्ञेयाकाररहितपना भी प्रत्यक्ष हो जायेगा तो यह निर्णय बन जायेगा कि ज्ञान ज्ञान ही मात्र है, अन्य जाननवानन कुछ नहीं है। तो देखो क्या, कह दिया कि ज्ञानस्वरूप और ज्ञेयाकाररहितपना—ये दोनों एक ही बात हैं। तो जब दोनों एक ही बात हैं तो वहाँ यह पक्ष क्यों डाला जा रहा कि ज्ञानसम्बेदन प्रत्यक्ष है, सो ज्ञेयाकार रहितपना भी प्रत्यक्ष हो गया। बजाय इसके कोई यदि यह कह बैठे कि ज्ञेयाकार रहितपना जैसे परोक्ष है वैसे ही ज्ञान भी परोक्ष हो जायेगा। जब दो मित्र होते हैं एक समान के तो उनमें अधीनता तो नहीं कही जा सकती कि इस मित्र के अधीन यह मित्र है, नहीं तो समान मित्र न कहलाते। असमान मित्र हों तो वहाँ ही यह अधीनता चलती है। ऐसे ही जब ये दोनों एक हो गए, तादात्म्य हो गया ज्ञान का स्वरूप और ज्ञेयाकाररहितपना इनमें। तो ये दोनों जब एक स्वरूप हैं तो उनमें यह भेद क्यों पड़ा कि सम्बेदन तो प्रत्यक्ष है और ज्ञेयाकाररहितपना परोक्ष है। दोनों एक हो गए तो ज्ञान को ही परोक्ष कह दो।

ज्ञानसंबेदन, और वेद्याकाररहितता का तादात्म्य होने पर भी व्याप्यव्यापक होने से प्रसज्ज्य एकत्व की असिद्धि का शङ्खाकार द्वारा प्रतिपादन—देखो कुछ नई-सी बात और पुरानी से जोड़ी बात, अब ध्यान से सुनो तो आगे अच्छी समझ चलेगी। शङ्खाकार यह कहता है कि जमीन पर घड़े का न होना, जैसे इस जमीन पर घड़ा नहीं रखा है, जैसे कमरे में घड़ा नहीं है वहाँ दो व्यवहार होते ना। पहिला व्यवहार किया केवल जमीन ही जमीन है और दूसरा व्यवहार किया वहाँ घड़े का, अभाव। दोनों ही तो मुख से बोल सकते। तो घड़े का अभाव कोई अलग चीज नहीं, किन्तु खाली जमीन के रहने का ही नाम घड़े का अभाव है। इसमें शङ्खाकार कह रहा कि बात यद्यपि ऐसी है कि खाली जमीन के होने का नाम ही घड़े का अभाव है और इस प्रकार केवल जमीन की उपलब्धि और घड़े की अनुपलब्धि इन दोनों का तादात्म्य है। ऐसा तादात्म्य होने पर भी ये दोनों बातें एक नहीं हैं। जमीन की उपलब्धि होना यह अनुपलब्धि का स्वरूप नहीं है। अनुपलब्धि बात और है, उपलब्धि बात

और है। इसी प्रकार ज्ञेयाकाररहितपना याने अनुपलब्धि बात और है और ज्ञान का सम्वेदन होना अर्थात् उपलब्धि यह बात और है। याने ज्ञानसम्वेदन तो व्याप्त है और ज्ञेयाकार न होना व्यापक है। अब व्याप्त क्या और व्यापक क्या? जैसे नीम और पेड़—ये दो बातें सामने रखो। नीम तो व्याप्त है और पेड़ व्यापक है। जो थोड़ी चीज़ हो सो व्याप्त और जो बहुत चीज़ हो सो व्यापक। जितने वृक्ष हैं वे सब नीम तो नहीं हैं, नीम व्याप्त है और जितने पेड़ हैं वे और और भी हैं। तो जैसे व्याप्तव्यापक में यह बात नहीं लायी जा सकती कि जो व्याप्त की चीज़ हो सो व्यापक की भी है, ऐसे ही ज्ञान का सम्वेदन तो व्याप्त है और ज्ञेयाकार न होना व्यापक है। सो यद्यपि नीम का और पेड़ का तादात्म्य सम्बंध है, फिर भी यह नियम नहीं बनाया जायेगा कि जो-जो पेड़ हो सो-सो नीम हो, और है तादात्म्य। नीम से वृक्ष कोई अलग है क्या? ऐसे ही तो है ज्ञानसम्वेदन से ज्ञेयाकार रहितपने का तादात्म्य, फिर भी ज्ञानसम्वेदन व्याप्त है और ज्ञेयाकार रहितपना व्यापक है। अतः वहाँ यह बात न लगावें कि वेद्याकाररहितपना परोक्ष है तो ज्ञान भी परोक्ष हो जाये। शङ्खाकार की एक शङ्खा है।

शंकाकार के सिद्धान्त से ज्ञानसम्वेदन व वेद्याकाररहितता में विषम व्याप्ति न होने से शंकाकार की आरेका—अब शंकाकार की शंका का समाधान सुनिये—जो सरल स्पष्ट होगा। शंकाकार का ज्ञानसम्वेदन व वेद्याकाररहितता में विषम व्याप्ति बताना ठीक नहीं। विषम व्याप्ति नीम और पेड़ में तो ऐसी ही है जैसी शंकाकार कह रहा, लेकिन ज्ञान और ज्ञेयाकार रहितता इसमें समव्याप्ति है। शंकाकार के सिद्धान्त में जो-जो ज्ञान है वह-वह ज्ञेयाकार से रहित है। ऐसा कोई ज्ञान नहीं, शंकाकार के सिद्धान्त में कि जो ज्ञेयाकार से रहित न हो। अतः वहाँ जो एक में लगेगा सो ही दूसरे में लगेगा। ज्ञेयाकाररहितपना परोक्ष है तो ज्ञानसम्वेदन भी परोक्ष बन जायेगा। इससे सीधी-सादी बात मान लो कि हम आप जो ज्ञान करते हैं वह ज्ञान अपने आपके ज्ञान के सम्वेदन में प्रत्यक्ष है और बाह्य पदार्थों की जानकारी में परोक्ष है। इस तरह “तत्प्रमाणे” इस सूत्र की व्याख्या में प्रमाण शब्द पर संघर्ष चल रहा कि कौन प्रमाण है, कितना प्रमाण है, कैसे प्रमाण है? यह बात कोई अलग बात नहीं है। आप मोक्षशास्त्र का पाठ पूरा कर डालते हैं, पर आपको यह पता नहीं पड़ता कि इसमें क्या-क्या विषय पड़ा है? उसकी गहराई का कुछ अंदाज तो होगा, कुछ समझ में भी आता है, कुछ नहीं भी आता है, पर एक श्रद्धा तो बनती है कि जैनशासन के तत्त्व कितने गम्भीर होते हैं और कितना सूक्ष्म निर्णय होता है?

ज्ञान के स्वरूप का निर्देश—मोक्षशास्त्र के “तत्प्रमाणे” इस सूत्र पर तत् की व्याख्या चल रही है। वह दो प्रमाणरूप है। वह कौन? ज्ञान। ज्ञान का स्वरूप कैसा है? देखो हम आप सब जीव ज्ञायकस्वरूपमय हैं, ज्ञान से अतिरिक्त याने ज्ञान को छोड़कर हम अपने में कुछ समझ न पायेंगे। अब जब स्वानुभव करना चाहें तो यह अनुभवने का पौरुष बनाये अपने आपको कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ज्ञान हूँ, ज्ञान सिवाय मैं कुछ नहीं हूँ। ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही भोगता हूँ, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञान ही इहलोक है, ज्ञान ही परलोक है, ऐसा एक ज्ञान ज्ञान ही ज्ञान में रहे तो बाह्य पदार्थों के विकल्प टूटकर इसे ज्ञानस्वरूप का अनुभव जगेगा। उस ज्ञान का ज्ञान करना कितना आवश्यक है? तो ज्ञान क्या है? एक प्रतिभास स्वरूप। कहते हैं ना ज्योतिरूप, प्रकाशरूप, ऐसे ही ज्ञान क्या चीज़ है? एक प्रतिभास। वह एकस्वरूप है। भला जैसे हम बाहर में

पुद्गल को देखते हैं तो पुद्गल का कोई अस्तित्व है और उसका कोई स्वरूप है। इस प्रकार हम अपने आप में निरखते हैं। तो हमारा स्वरूप आकाश की तरह अमूर्त है। और मैं प्रतिभासस्वरूप हूँ, वास्तविक पदार्थ हूँ। केवल सोचने भर का ही नहीं, कल्पना किया हुआ नहीं या अन्य चीज के मेल से बनता हो ऐसा नहीं, किन्तु यह मैं आत्मा स्वयं सद्भूत वस्तु हूँ। जैसे कहा—ज्ञानमय। ज्ञान में क्या-क्या स्वरूप पाये जाते हैं, उस ही का यह वर्णन है।

ज्ञान में वेदकता व अवेदकता—ज्ञान जानने वाला होता, पर सर्वथा जानने वाला होता इतना भी एकान्त नहीं कर सकते। देखो स्याद्वाद की कला, ज्ञान जानते वाला है, मगर सर्व को जानने वाला है सो नहीं। जो विषय है, ज्ञान उसको जानता है। जैसे मतिज्ञान का विषय है अपने अभिमुख नियत पदार्थ को जानना तो जो विषय से परे है उन पदार्थों का अवेदक है ज्ञान। इस प्रकरण में यह बतला रहे हैं कि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप में नियत विषय में तो वेदक है और अन्य विषय अवेदक है। अच्छा श्रुतज्ञान भी देख लो, श्रुतज्ञान का जो विषय है अपने विषय में वेदक है, अन्य ज्ञान के विषय में वेदक नहीं, यही बात अवधिज्ञान की है। यह ही बात मनःपर्यज्ञान की और केवलज्ञान में भी यही बात है। केवलज्ञान सर्व, सत् को जानता है। जो भी सत् है, जो भी था, जो भी होगा, सब सत् को ही जानता है, असत् को नहीं जानता। और इसी कारण असत् ज्ञेय नहीं कहा गया। और इसी प्रकार जिस तरह हम आप धर्म की कल्पना करते हैं। काल्पनिक धर्म, वह काल्पनिक धर्म भी केवलज्ञान का विषय नहीं। वह जो सत् है वह विषय है। एक उदाहरण लो, जैसे आपने कल्पना की कि यह मेरा मकान है तो क्या केवलज्ञानी भी यों जानेगा कि यह इसका मकान है? अगर केवलज्ञानी इस तरह से जान जाये कि यह इसका मकान है तो समझो कि उसकी पक्की रजिस्ट्री हो गई। वह घर फिर उससे कभी छूट नहीं सकता। तो केवलज्ञान सत् को जानता है। आपका विपरीत अभिप्राय बना रहता है उस रूप जो आप परिणम रहे हैं यह आपका परिणमन है, यह ज्ञान में आ गया। मकान का जो परिणमन है, जो पुद्गल स्कंध है वह ज्ञान में आ गया। जितना जो कुछ सत् है वह ज्ञान में आ जाता है, पर असत् और काल्पनिक धर्म—ये केवलज्ञानी के विषय नहीं, क्योंकि ये असत् हैं और इसी कारण प्रमेयत्व गुण बताया गया है। जो प्रमेय हो सो ज्ञान का विषय है। सूत्रकार और उसके टीकाकार विद्यानन्दी स्वामी महाराज यह बात कह रहे हैं कि प्रत्येक ज्ञान अपने वेद्यस्वरूप में वेदक है, अन्य स्वरूप में वेदक नहीं, इसलिए ज्ञान में वेदक और अवेदक दोनों विरोधी धर्मों का समावेश है। देखो यह दार्शनिक विषय है। यह ध्यान में आगे आयेगा कि आखिर आचार्य महाराज ने इसको किस लिए बताया है? इसमें विस्म्वाद है। कोई दार्शनिक मानते हैं कि ज्ञान वेदक ही वेदक है और कोई कहते अवेदक ही है और कोई समझते कि खुद का वेदक है और पर का अवेदक। वेदक मायने जाननहार।

एकत्र विरुद्धधर्मद्वय के अवस्थान के उदाहरण—युक्तिशास्त्र में प्रत्येक वस्तु को अनन्तधर्मात्मक बताया गया है। देखो अकलंकदेव ने जब भगवान सिद्ध की स्मरण किया तो उन्होंने कहा—सिद्ध भगवान मुक्त हैं व अमुक्त हैं। मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना। अरे अब भला बतलाओ—जो सिद्धप्रभु कर्म से मुक्त हो गए, शरीर भी अलग हो गए, जन्ममरण जिनके नहीं रहा उनको मुक्त आत्मा क्यों कहा? तो उसका उत्तर दिया कि ज्ञान

से अमुक्त हैं और, कर्म से मुक्त । यदि ज्ञानस्वरूप से मुक्त हो जाये तो जड़ बन जायें । तो वे प्रभु कर्म अपेक्षा से मुक्त हैं और ज्ञानानन्दस्वरूप की अपेक्षा से अमुक्त हैं । ऐसा जो एक दिग्गज आचार्य, जिन्होंने स्याद्वाद के द्वारा अनेक कला विलास रूप विषय रखा हैं वे यहाँ यह कह रहे हैं कि प्रत्येक ज्ञान वेदक व अवेदक रूप है । क्या कोई ज्ञान बंधापुत्र को ज्ञान लेगा? बंधा का पुत्र वह भी क्या ज्ञान का विषय पड़ेगा? न पड़ेगा, क्योंकि वह असत् है । फिर आप कहेंगे कि बंधापुत्र यहाँ बोल तो रहे हो । बोल तो रहे हैं, मगर वहाँ दो शब्द हैं—बंधा और पुत्र । इसका विरोध नहीं है, ये तो हैं, बंधा भी होता है और पुत्र भी होता है । मगर बंधा का पुत्र यह असत् है । जैसे अभी बताया कि यह मकान मेरा है तो यह आप सत् हैं, मकान सत् है और मकान मेरा है, यह बात असत् है । तो प्रभु के ज्ञान में आपका परिणमन ज्ञान में आया, मकान भी आया, जो सत् है सो आया, मगर यह हमारा है—इस तरह का जो काल्पनिक धर्म है वह हम आप छद्मस्थ जीवों में चलता है, पर प्रभु में नहीं चलता । वह तो शुद्ध अंतस्तत्व का ज्ञाता होता है । तो यहाँ बतला रहे हैं कि जैनदर्शन ही क्या, सभी दर्शनों ने यह माना है कि ज्ञान का जो विषय है उसे जानेगा । ज्ञान का जो विषय नहीं है उसे न जानेगा ।

दोनों नयों के वर्णन में स्वभाव के दर्शन की शिक्षा—अब देखिये प्रत्येक पदार्थ अपनी अर्थक्रिया में रहता है, दूसरे की अर्थक्रिया में नहीं रहता । सत् अपनी पर्यायों में बदलता ही है । अगुरुलघुत्व गुण किसे कहते हैं? जिस गुण के प्रताप से वस्तु अपने में परिणमे, पर में न परिणमे, यह कभी हो नहीं सकता । कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप परिणम जाये, भले ही यह प्रकाश हो रहा है, पर यह सूर्य इस प्रकाशरूप नहीं परिणम रहा है, मगर यह भी स्पष्ट है कि यह भींत प्रकाशरूप सूर्य के सन्निधान में परिणम रही है । तो सूर्य तो निमित्त हुआ और यह प्रकाशरूप परिणमन हुआ, मगर सूर्य भूमि के प्रकाशरूप परिणम गया हो ऐसी बात नहीं है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं बनता और निमित्तनैमित्तिक के सम्बन्ध बिना पदार्थों में ये विकार भी नहीं बन सकते । दोनों का सही-सही बोध रखने वाला ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव अपने मोक्षमार्ग के अनुकूल स्वभावदृष्टि को पाता । कैसे? देखो वस्तुस्वातंत्र्य, मैं हूँ, स्वतंत्र हूँ, ज्ञान स्वरूप हूँ, ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान के सिवाय मैं कुछ नहीं कर सकता, ऐसा एक ही वस्तु में एक ज्ञान को ही निरखा जाये तो वह स्वभावदृष्टि में उमंग देता है, स्वभावदृष्टि की ओर लग जाता है । एक बात अब निमित्तनैमित्तिक योग में क्या देखेंगे कि विकार जितने होते हैं वे परसंग का निमित्त पाकर होते हैं और वहाँ यह ज्ञानी जीव क्या देखता है कि ये विकार मैं नहीं हूँ । ये तो एक नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, परतत्त्व है, ये मैं नहीं । मैं तो एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ । जैसे जो कुशल खिलाड़ी बालक होता है वह चलते-फिरते, उठते-बैठते, टेढ़े-सीधे जैसी चाहे स्थिति में उस खेल को कुशलता से खेल लेता है । ऐसे ही जो कुशल ज्ञानी पुरुष है? वह हर प्रकरण से स्वभावदर्शन का ही निचोड़ निकाल लेता है, क्योंकि स्वभावदर्शन बिना जीव का उद्धार नहीं हो सकता ।

ज्ञानानुभव के आनन्द का अन्युदय होने पर सर्वसिद्धि—इस जीव ने अब तक परपदार्थों में ही उपयोग लगाया और पर मैं ही इसकी आत्मीयता हुई । यह मैं हूँ, जहाँ गया वहाँ ही इसने माना कि यह मैं हूँ, जिस पद पहुंचा, जिस एक पहुंचा उसी को माना कि यह मैं हूँ । फल इसका यह हुआ कि यह मैं आत्मा अपने सहज

ज्ञानस्वरूप में मग्न न हो सका । तो कैसे मग्न होऊँ? भाई उस सहजस्वरूप के दर्शन करें, अनुभव करें । ज्ञानानुभव की ऐसी अलौकिक स्थिति होती है कि वहां जैसे कोई कार्यकर्ता कहता है कि धीरे करो, सम्हलकर करो, शान्ति से करो, ऐसे ही जब यह ज्ञान अपने सहज ज्ञानस्वरूप के अनुभव के लिए चलता है तो ऐसे धीमे ज्ञान में ज्ञानस्वरूप, जिसमें कोई तरंग नहीं है, कोई नटखट नहीं है, विकल्प नहीं है, कोई क्रान्ति नहीं है, किन्तु ऐसे एक सहज भाव से ज्ञान में ज्ञानस्वरूप आया वहाँ बहुत शान्ति और एक अलौकिक आनन्दमय स्थिति होती है । ऐसी स्थिति पा लेने के बाद उसके लिए दुनिया बदल जाती है । सारी दुनिया मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं । मुझे क्या करना इस दुनिया में, मुझे यहाँ किससे क्या लेना, ये सब भिन्न हैं । तो जिसमें एक अपने आपके अलौकिक आनन्द का अनुभव जगा उस पुरुष को यह सारा जगत् असार दिखता है और उसका ज्ञान वैराग्यमय होता है और उस वैराग्य के बल से उसकी धुन होती है राग से हटने की और ज्ञानस्वरूप में समा जाने की । इस प्रयत्न के लिए जब यह ज्ञानी चलता है तो जो स्थितियाँ इसकी आती हैं वे शुभोपयोग की हैं । मुनिव्रत की ओर आगे बढ़ते हुए सारी स्थितियों में गुजर कर यह ज्ञानी जीव एक अलौकिक परमसुख को प्राप्त कर लेता है, उस ज्ञान की यह चर्चा चल रही है ।

ज्ञान की एक पर्याय में नाना ज्ञानपरिणमन मानने वालों की मान्यता वाली आरेका का विश्लेषण व समाधान—दर्शनशास्त्र में इस प्रकरण में यह बताया जा रहा है कि देखो ज्ञान अनेक पदार्थों को जानता ना । तो ज्ञान में वे अनेक आकार होते हैं । बहुत ध्यान से समझने से यह स्पष्ट होता जायेगा, मगर आंखें खोलकर कोई मनुष्य को देखें तो हमारे ज्ञान में उतने मनुष्यों का बोध हुआ, मायने इतना आकार मेरे को मिला, ज्ञान में प्रतिबिम्बित हुआ तो ऐसा ज्ञान नाना आकारमय होता है । अब यह समझ कीजियेगा—जैसे गेहूं का बड़ा ढेर देख लिया तो ज्ञान में क्या कोई एक गेहूं प्रतिबिम्बित है? अरे जितने भी गेहूं पड़े हैं सबका बोध है । तो क्या स्थिति हुई? ज्ञान तो है एक समय का एक, मगर वे हो रहे हैं ज्ञेयाकार, यह ज्ञान की एक सी स्थिति है । तो इस विषय में एक दार्शनिक यह बात कहता ते कि हमेशा ज्ञान में एकाकार आता है, ज्ञान में नानाकार नहीं आता, और जैनसिद्धान्त क्या कहता हैं कि ज्ञान में नानाकार होते हैं, जैसे ‘बहु-बहुविधक्षिप्रानि:सुतानुक्तध्रुवाणां सेताराणां’ इस सूत्र में बोला ना—ज्ञान बहुत को जानता, बहुत प्रकार को जानता और एक समय में जानता । तो जब एक समय में बहुत जानेंगे तो बहुत का ही तो बोध होगा कि वह बोध एक का रहेगा । एक ज्ञान नानाकाररूप होता है, किन्तु नैयायिक सिद्धान्त वाले ऐसा कहते हैं कि एक ज्ञान में आकार एक ही होता और जो उदाहरण देते हो कि देखो जब चन्द्रमा को देखते हैं तो चन्द्रमा को भी जाना, एक संख्या भी जानी, एक रूप है ऐसा भी जाना, ये जो नाना आकार बताते तो शङ्काकार कहता कि एक ज्ञान के नाना आकार नहीं, किन्तु नाना ज्ञान बन रहे एक ही समय में । एक दार्शनिक यह बात रखता है । देखो यह बतला रहे हैं कि एक बार जो ज्ञान होता है जीव को उस ज्ञान में नानाकार रहता है । एक ही समय में जितने पदार्थों को जानेगा उतने आकार में रहेगा और रहेगा ज्ञान वह एक ही । किन्तु एक दार्शनिक कहता है कि नहीं । वह ज्ञान ही अनेक है । जितना आकार आया । जितना बोध हुआ उतना ही पृथक्-पृथक् ज्ञान है और उन ज्ञानों का समूह बन रहा है । जैसे चन्द्र को देखते ही कितने ज्ञान हो रहे? चन्द्र है एक है, इतनी दूर है, साफ है । वे कहते हैं कि ये नाना ज्ञान

हो रहे और सिद्धान्त क्या कहता है कि एक ज्ञान में ही उतने बोध हो रहे। उसका समाधान सुनो। यहाँ कह रहे हैं बौद्धादिकों से कि देखो यदि ऐसा मानेंगे कि एक ज्ञान में एक ही आकार होता है तो तुम तो खुद चित्राद्वैत में हुए, मेचक ज्ञान मानते हो याने नाना चित्रण होते हैं, एक ज्ञान में तब तुम्हारे ही सिद्धान्त से इसका विरोध है। और देखिये यदि एक ज्ञान में नानाकार न समझा जाये तो सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जब इस बात पर, अड़ेंगे कि जितने पदार्थ हैं उनका अलग-अलग ज्ञान कर-करके छोड़-छोड़कर सर्वज्ञ बने तो यह बिल्कुल असम्भव बात है कि एक-एक का ज्ञान करके और उन ज्ञानों को जोड़-जोड़कर सर्वज्ञ कैसे होगा? हमने जाना, अब इसे जाना, वह छूट गया। अनन्त पदार्थ है, ऐसा एक-एक को जान जानकर जोड़-जोड़कर कोई सर्वज्ञ सिद्ध करे तो असम्भव बात है। सर्वज्ञता तब ही सिद्ध है जब एक समय के ज्ञान में सर्व सत् एक साथ प्रतिबिम्बित होंगे।

प्रमाण के स्वरूप के विषय में शङ्काओं का समाधान—इस प्रकरण में बात कही गई है ज्ञान के सम्बेदन की। अब ज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहते हैं ना। जैसे कि उसका ज्ञान पूरा प्रमाण है। प्रमाण है इसका स्वरूप क्या? इसका स्वरूप बताया है जैनसिद्धान्त में कि जो स्व और अर्थ का वेदन करे वह प्रमाण है, पर यहाँ बौद्ध यह बात कहते हैं कि जो अविसम्वादी ज्ञान है सो प्रमाण है। जिस ज्ञान में ज्ञान करते समय विवाद नहीं रहता वह ज्ञान प्रमाण है। अब आप देखना, जितना भी अन्य दर्शन वाले कहते हैं और जब वे अपनी बात कहते तब आपको ऐसा लगेगा कि बेचारे ठीक ही तो कह रहे, उनके पीछे क्यों पड़ा जा रहा, ऐसा सोचना चाहिए। बौद्ध कहते हैं कि जो ज्ञान विवादरहित है उसको प्रमाण कहते हैं, ठीक लग रहा ना? अरे जहाँ विवाद है वह अप्रमाण है। जहाँ विवाद नहीं वह प्रमाण है। बौद्ध ठीक ही तो कह रहे, लग रहा है ना ऐसा, किन्तु देखो जिस समय कोई जीव स्वप्न देख रहा हो—नदी, पर्वत, मगरमच्छ आदिक जो कुछ देख रहा हो। कहीं स्वप्न में मंदिर दिखता, प्रतिमा दिखती, दर्शन करते, स्वप्न में होते ना अनेक प्रकार के ज्ञान? तो स्वप्न के समय में उस स्वप्न देखने वाले को क्या विवाद रहता है कि मैं यह झूठा ज्ञान रहा हूं? अविसम्वादी ज्ञान है। देखो लक्षण का लक्षण सही तब बनता है जब अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष—इन तीनों दोषों से रहित हो तो स्वरूप है। सुनने में तो लग रहा कि बौद्ध बेचारे ठीक कह रहे। विवादरहित ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, पर स्वप्न में जो दिख रहा है वहाँ क्या विवाद है स्वप्न में? हाँ स्वप्न मिट जाये, जग जाये तब सोचेंगे कि अरे मैंने जो कुछ स्वप्न में देखा वह सब झूठ था। यह दार्शनिक शास्त्र है, युक्ति का शास्त्र है। यहाँ कोई कहे कि हमारे आगम में लिखा है तो इसको कोई प्रमाण नहीं माना जाता है? इसका समाधान तो किया जा सकता है। उन्हीं शङ्काकार के दर्शन से व युक्ति से। तुम लोग कहोगे कि हमारे शास्त्रों में लिखा तो वे यह कहेंगे कि जावो शास्त्र अपने आले में धर दो। तो उनको क्या उत्तर दोगे? वहाँ तो दार्शनिकों को युक्तियों के बल से मनाना पड़ेगा। अविसम्वादी ज्ञान प्रमाण है, ऐसा कहना क्यों अयुक्त है? यों कि स्वप्न का भी। ज्ञान प्रमाण हो जावेगा। अब बौद्ध कहते हैं कि इतनी ही बात नहीं, किन्तु जिस ज्ञान के करने से सन्तोष हो जाये वह ज्ञान प्रमाण है। देखो कैसी अदल-बदल चल रही कि ज्ञानस्वरूप के बारे में ज्ञान की बात कह रहे हैं कि कौनसा ज्ञान प्रमाण है? तो दूसरी बात रखी जा रही है जिस ज्ञान के करने से सन्तोष हो जाये सो प्रमाण है। इसके समाधान में

भी कह दीजिये कि यह भी बात स्वप्र में है। स्वप्र में यदि भोजन दिख जाये तो भोजन भी करने लगते विकल्प में और सन्तोष भी करते। तो सन्तोष हो जाये जिस ज्ञान से वह प्रमाण है, यह सब अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। तब एक और अन्य बात रखी है बौद्धों ने कि नहीं भाई बात ऐसी मान लो कि अर्थक्रिया जिस ज्ञान में ठहरे वह ज्ञान प्रमाण है। जैसे हम जानते हैं कि यह स्पीकर है और हम इसमें बोलते रहते हैं, अर्थक्रिया चल रही है तो ऐसी अर्थक्रिया जहां ठहरे वह ज्ञान प्रमाण है। तो इसका समाधान देखो शब्द सुनो, उसमें अर्थक्रिया ठहरती है क्या? बिजली चमकती दिख गई तो अर्थक्रिया ठहरती है क्या? तो अर्थक्रिया का ठहरना प्रमाण है, यह बात भी न बनी तो बौद्ध कहते हैं कि लो हमारी एक और अन्य बात सुनो—इच्छा न रहे सो प्रमाण है। जिस ज्ञान के होने पर इच्छा दूर हो जाये, जैसे कि प्यास लगी थी, पानी चाहिये था, पानी दिख गया, अब इच्छानिवृत्ति हो गई। स्वप्र में पानी कहां है, सो इच्छानिवृत्ति भी जहाँ हो सो प्रमाण है। कहते हैं कि ऐसी आकांक्षा की विकृति तो स्वप्र में भी हुई। प्यास लगी, पानी दिख गया संतोष मान रहे। इस विषय में बहुत शंका समाधान है, इस विषय को छोड़े, आखिर बात यह आती है कि जो ज्ञान स्व और पदार्थ को जानता है और जिस-जिस विषय में विसम्बाद नहीं रहता है वह ज्ञान उस-उस विषय में प्रमाण होता है।

स्वयं की चर्चा में स्वयं के प्रकाश के उपाय का कथन—किसकी बात की जा रही है? अपने आत्मा के स्वरूप की बात किसको कठिन लगती है कि जिन्होंने अपने स्वरूप के बारे में कुछ भान करने का प्रोग्राम ही नहीं बनाया। देखो जितनी बात कही जा रही है वह सब बात एक ज्ञानी पुरुष अपने अनुभव में लेता है। सबको सब वर्णन करने में देर लगेगी, पर समझने में देर नहीं लगती और उसकी अपेक्षा अनुभव करने में तो बिल्कुल ही देर नहीं लगती। अनुभव से अधिक समय लगता है समझने में। समझने से ज्यादा समय लगता है बताने में, पर एक अनुभव से जिस समय इस ज्ञानस्वरूप का दर्शन हुआ, सबका सब इसके अनुभव में आ जाता है। ऐसा यह ज्ञान प्रमाणरूप है। मोक्षशास्त्र उमास्वामी का बनाया है, और किन्हीं-किन्हीं दार्शनिकों ने तो यह कहा है कि उमास्वामी और कुन्दकुन्दाचार्य एक थे और इसके प्रमाण में बतलाते हैं कि उमास्वामी को गृद्धपिच्छ आचार्य कहा और कुन्दकुन्दाचार्य को भी गृद्धपिच्छ कहा। जब ये विहार कर रहे थे और पिछी गिर गई तो आकाश में गृद्धों के पंख मिले, वहीं उनकी पिछी हो गई। तो ये आचार्य महाराज एक संक्षेप में बता देते हैं। तत्प्रमाण—इसमें मैं कितना मर्म, कितना रहस्य और कितना तथ्य भरा है? यह बहुत विस्तार की बात है। देखो अष्टमी चतुर्दशी को तथा अष्टान्हिका आदिक पर्वों में सूत्रजी का पाठ सभी लोग करते हैं और बड़े विनयपूर्वक करते हैं, मगर उसमें क्या रब पढ़े हैं? यह तो उस शास्त्र में अवगाहना करने से ही विदित होता है। पाठ तो जल्दी-जल्दी पढ़ते हैं। वस्तु के स्वरूप को समझने का क्या उपाय है, बस यहीं चर्चा केवल पहले अध्याय में है। अभी जीवतत्त्व का वर्णन नहीं आया। हां उसका वर्णन यों आ जाता कि तत्त्व के जानने का जो उपाय है वह जीव की ही स्थिति है। इस ढंग से तो आता है, मगर जैसे आचार्य ऐसा संकल्प करके चले कि मैं ७ तत्त्वों का वर्णन करूँगा तो इस प्रोग्राम के अनुसार जीवतत्त्व का वर्णन दूसरे अध्याय से है और पहले अध्याय में समस्त तत्त्वों के जानने का क्या उपाय है, बस उस उपाय का वर्णन है। सारांश यह जानें कि जगत में सबसे अधिक अलौकिक विभूति है तो मेरा ज्ञान है। कभी किसी बातपर अधीर मत हों। अगर कुछ टोटा

पड़ गया या कुछ नुक्सान हो गया या वियोग हो गया तो कभी अधीर न हों। इनसे मेरा क्या? यह तो प्रकट भिन्न चीज हैं। मेरा ज्ञान ही मेरे लिए वैभव है। यह भगवान आत्मतत्त्व हमारा एक अलौकिक तत्त्व है, ऐसी जिसकी दृष्टि आ गई तो उसने समझो सब कुछ पा लिया। इसे कहते हैं सर्व अर्थ की सिद्धि होना। सारे अभीष्ट काम सिद्ध हो जायें ऐसी कौनसी स्थिति है? किसी भी पदार्थ की चाह न रहे, इसी के मायने हैं कि सारे पदार्थ एक मिल गए, मगर एक-एक पदार्थ मिला मिलाकर सारे पदार्थों के मिलने की कोई बात करे तो यह असम्भव है। सारे पदार्थ कब मिल गए आपको? समस्त प्रयोजनों की सिद्धि कब हो गई आपको जब कि आप ज्ञानस्वरूप को जानकर यह निर्णय कर लें कि मुझे कुछ न चाहिए। मेरे चाहने योग्य यहाँ कुछ भी चीज नहीं है। मैं सर्व से निराला एक अकिञ्चन हूँ—ऐसा अनुभव कर लें।

जीव के सर्वस्व ज्ञानभाव की प्रमाणरूपता का दिग्दर्शन—जीव का सर्वस्व वैभव ज्ञान है। ज्ञान ही इसका स्वरूप है। ज्ञान ही इसका सर्वस्व है। ज्ञान सिवाय आत्मा और क्या? यदि यह जीव अपने को ज्ञानमात्र अनुभव कर ले कि मैं ज्ञान ही ज्ञान हूँ, ज्ञान सिवाय अन्य कुछ नहीं हूँ। जगत में दिखने वाले ये पदार्थ मित्रादिक कुटुम्बीजन या अन्य कुछ वैभव मेरे से प्रकट निराले हैं, उनका मैं नहीं, मेरे वे नहीं। मैं केवल अपने में अपनी ही वृत्ति करता रहता हूँ, ऐसा अपने को केवल ज्ञानस्वरूप देखें तो इस जीव पर कोई संकट नहीं, पर अपने स्वरूप की दृष्टि तो करता नहीं और कर्मोदय का निमित्त पाकर, कषायावेश में आकर, बाह्य पदार्थों पर दृष्टि लगाकर अपने को क्षुब्ध करता है और ऐसा ही यह अनादि काल से करता चला आया है और यही बात इस भव में भी यह करता चला जायेगा तो यह भी भव व्यर्थ गया। तो संभाल करना अपने आपके स्वरूप की, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ जो बातें हैं उनसे उपेक्षा करना और जैसे इस ज्ञानतीर्थ की प्रवृत्ति चले उस प्रकार व्यवहार करना, उस ज्ञान के बारे में यहाँ जिक्र चल रहा है। तत्प्रमाणे—इस सूत्र की व्याख्या चल रही है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि वह दो प्रमाणरूप है अर्थात् ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। देखो हम आपका स्वरूप है ज्ञान। कोई भी पदार्थ परिणमन किए बिना अस्तित्व नहीं रख सकता। जो भी है उसका प्रति समय परिणमन चलता ही रहेगा। तो मैं हूँ ज्ञानस्वरूप, मुझ ज्ञानस्वरूप का परिणमन चलता ही रहेगा। मुझ ज्ञानस्वरूप का परिणमन क्या हुआ? जानना, समझना। पदार्थ के बारे में अपनी समझ बनना—यह है ज्ञान का काम तो वह जानन, वह समझामें, वह परिचय हम लोगों को दो ढंगों से होता है, एक तो होता है इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर और एक होता है इन्द्रिय और मन की सहायता बिना? केवल अपनी ज्ञानशक्ति से, ज्ञानस्वरूप से केवल आत्मा ही आत्मा के द्वारा ज्ञान होता है। ज्ञान तो सर्वत्र आत्मा के ही द्वारा होता है, लेकिन कहीं इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर होता है, कहीं इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखकर होता है। देखो होता है ना हम आप सब लोगों के जो ज्ञान चल रहा है वह इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखकर चल रहा है ना? आखें मींच लो तो रूप दिखेगा क्या? कोई चीज जिहा पर मत रखो तो स्वाद आ जायेगा क्या? सभी ज्ञान ये इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखते हैं। जैसे प्रतिष्ठा इज्जत, यश, कीर्ति आदिक सम्बन्धी जो ज्ञान होता है वह रखता है मन की अपेक्षा। तो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखकर हमारे ज्ञान चल रहे हैं तो ये सब ज्ञान कहलाये परोक्ष और जो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान है वह आत्मशक्ति से

बढ़ता है, इन्द्रियमन की अपेक्षा वहाँ नहीं रहती तो वह कहलाया प्रत्यक्ष। यह सब वर्णन आगे किया जायेगा।

अन्य चीजों को प्रमाणरूप कहने के व्यवहार में भी ज्ञान की प्रमाणरूपता का लक्ष्य—प्रकरण में यह समझें कि यह कहा जा रहा है कि ज्ञान प्रमाणरूप है, प्रमाण है। जैसे लोग कहते हैं कि अच्छा बतलावो इस बात का प्रमाण क्या? तो इट दस्तावेज सामने रख देते हैं कि यह है प्रमाण। तो क्या वह कागज स्याही वह प्रमाण है? नहीं। उसको पढ़कर जो भाव समझा, जो ज्ञान आया वह ज्ञान प्रमाण है। हर जगह ज्ञान ही प्रमाण होता है, चीज प्रमाण नहीं होती। कोई गवाह पेश कर दे साहब यह है प्रमाण तो क्या वह गवाह की शङ्ख-सूरत प्रमाण है? क्या गवाह के वचन प्रमाण हैं? अरे गवाह की बात सुनकर सुनने वाले के जो ज्ञान बना कि बात ऐसी ही है वह ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान को छोड़कर अन्य कुछ प्रमाण नहीं होता। तो इस प्रमाण के बारे में यह चर्चा चल रही है।

क्षणिकवादसम्मत चार प्रमाणलक्षणों का संक्षिप्त समीक्षण—प्रमाण किसे कहते हैं? जैनसिद्धान्त तो कहता है कि ज्ञान प्रमाण है और वह ज्ञान कैसे हुआ? जो स्व और पदार्थ को जानता हो, पर इसके विपरीत बौद्ध यह बात रख रहे हैं कि जो ज्ञान अविसम्बादी हो वह प्रमाण है, ज्ञानमात्र नहीं, किन्तु जो विसम्बाद रहित हो सो प्रमाण। आया ज्ञान ही, पर उनका विवादरहित व्यवहार से मतलब है। हाँ तो पूछा गया कि विसम्बाद न होना इसका क्या अर्थ है? तो पहले तो यह बतलाया कि जहाँ विवाद न उठे सो प्रमाण। विवाद मायने विरोध। तो कहते हैं कि ऐसे तो जब स्वप्र में कोई चीज दिखती है कि हम यात्रा को जा रहे हैं, हम पानी से नहा रहे हैं, हम जंगल में जा रहे हैं या धन मिल गया है या राजपाट मिल गया है तो ऐसा स्वप्र देखने वाले को क्या उसमें कुछ विवाद रहता है? बिल्कुल विवाद नहीं रहता, बिल्कुल सच समझता, रंच भी शङ्खा नहीं रहती। तो फिर वह भी प्रमाण बन जायेगा। जब बौद्धजनों ने दूसरी बात रखी कि इतना ही नहीं किन्तु जहाँ आकांक्षा निवृत्त हो जाये सो प्रमाण है तो उसमें भी यही उत्तर है कि स्वप्र में भी इच्छानिवृत्ति हो जाती है। जैसे मान लो स्वप्र आया कि हम किसी पंगत में जा रहे हैं, स्वप्र में खूब अच्छा दिखता है, लड्डू भी परोसा, खाना भी परोसा और खाते भी हैं, इच्छा भी दूर होती, जैसे जगते समय भोजन करन से इच्छा दूर होती, पेटसा भर जाता, ऐसे ही स्वप्र में भी लगता तो वह भी प्रमाण हो जायेगा। तब तीसरी बात रखी कि जिसमें संतोष हो सो प्रमाता तो इसका भी वही उत्तर स्वप्र में भी सन्तोष हो जाता, स्वप्र में भी स्वाद लेते हैं, मिलता कुछ नहीं, मगर देखो बात सब झालकती है ना। सन्तोष होता है ना, तो वह प्रमाण हो जायेगा। तब फिर वे कहते कि जिसमें अर्थक्रिया, ठहरे सो प्रमाण हैं। काम ठहरे। स्वप्र में देखी हुई बात में काम कहाँ ठहरता? मिट जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि जैसे किसी ने कोई शब्द सुना और सुनने में आ गए, खत्म हो गया, अब उसकी अर्थक्रिया नहीं चलती तो वह सुनना भी अप्रमाण हो जायेगा।

क्षणिकवादसम्मत प्रमाण के पञ्चम लक्षण अभिप्रायनिवेदन में भी लक्षणत्व की असिद्धि—बौद्धसम्मत प्रमाण के चार लक्षणों की समीक्षा के बाद वह कहता है कि अब हमारी ५वीं बात सुनो। यद्यपि शब्द सुनने के बाद शब्द न रहे, कान में शब्द का सुनना न रहा, पर उन शब्दों को सुनकर अच्छा बुरा लगना, विचार करना, ये जो

फल देखे जा रहे हैं तो इस पल का जो अनुभव होता है इससे यह ही समझ लें कि साध्य छूटा नहीं, अर्थक्रिया छूटी नहीं। इसे कहते हैं अभिप्रेत निवेदन याने सुनकर जो अभिप्राय बना उसका जो फल मिला उससे सिद्ध हुआ कि बराबर काम चल रहा। तो अभिप्राय का निवेदन प्रमाण है। अब इसका उत्तर चलेगा। देखो फल का अनुभव, अभिप्राय का परिचय यह अगर प्रमाण हो तो इसका अर्थ है कि उससे जो इच्छा दूर हुई, संतोष हुआ। बुरा लगा या अच्छा लगा, यह ही प्रमाण कहलाया। फिर अर्थक्रिया प्रमाण नहीं कहला सकती। और फिर यह बात तो स्वप्न में भी देखी जाती, इसलिए अभिप्राय निवेदन भी प्रमाण लक्षण न रहा। देखो कौनसा ज्ञान प्रमाण है? इस विषय पर बड़ी समस्या चल रही है यहाँ। एक सीधी बात न मानने पर टेढ़ी बात की हठ होनेपर अनेक टेढ़े फंसानी पड़ती हैं और उसमें फिर इस आत्मा को मिलता कुछ नहीं है। केवल एक श्रम। सीधी बात यह है कि ज्ञान खुद को जानता है, सही है और जिस पदार्थ को जानता उसे भी समझना कि यह सही है। यह सब युक्तियों से, स्वानुभव से सब प्रकार से सिद्ध हो जाता है और देखो यह प्रमाण और अप्रमाण तो एक ज्ञान में भी बन जाता है। बदलता नहीं, किन्तु किसी अंश में प्रमाण है, किसी अंश में अप्रमाण है। यहाँ फिर शङ्काकार अगर कहे कि देखो स्वप्न में देखी चीज और स्वप्न में उसका फल भी भोगे, तिस पर भी जब जग जाता है तब फिर वह अभिप्राय तो नहीं रहता, इसलिए स्वप्न का जाना हुआ प्रमाण नहीं है। तो कहते हैं कि अभिप्राय चल-विचल हो जाता, इसका अर्थ क्या? तो कहते हैं कि अर्थ यह है कि जब यह जग जाता है तो इसे यह ही बोध होता है कि ओह! मैंने स्वप्न में व्यर्थ ऐसी तर्कणा करी, वह झूठ है। तो देखिये उत्तर, अपना-अपना अनुभव बतायगा। स्वप्न में भी ऐसा बोध होता है। जैसे आपका कोई इष्ट गुजर गया, ५-७ वर्ष हो गए, आपको दृढ़ निर्णय है ना कि वह तो गुजर ही गया, अब काहे को मिलता है? और किसी दिन स्वप्न आ जाये और वही आदमी दिख जाये और उससे आप बात भी कर रहे हैं तो थोड़ा आप उस स्वप्न में भी सोचते हैं कि ओह! मैं व्यर्थ सोचता था कि गुजर गया, वह तो यह खड़ा है। बोलो अनुभव से ऐसी बात आती कि नहीं। स्वप्न में भी थोड़ा रुचाल तो लग रहा कि मैंने बहुत-बहुत, सोचा कि अरे वह तो मर गए, मगर यह तो सामने खड़े हैं, बैठे हैं, बात कर रहे हैं, यह स्वप्न की बात कह रहे हैं। स्वप्न में ऐसा लगता है। तो लो स्वप्न में भी अभिप्राय तो बराबर चल रहा है। तो वह ज्ञान भी प्रमाण बन जायेगा। देखिये क्या बात चल रही है? कठिन नहीं है। ध्यान से सुनो—बात यह चल रही है कि जिस ज्ञान के होनेपर काम किया जा रहा हो वह ज्ञान प्रमाण है तो उसी की चर्चा चल रही है कि काम तो स्वप्न में भी कर दिया जाता है, स्वप्न में भी अभिप्राय रहता है। यदि यह कहो कि स्वप्न की बात तो बाद में बाधित हो जाती है कि वह झूठ था। तो जब बाधक ज्ञान दूसरा बने कि वह झूठ था तो सिद्ध हो गया कि स्वप्न का ज्ञान सच नहीं। तो उत्तर देते हैं कि ऐसे ही तो जगते के भी कई ज्ञान बाधित हो जाते हैं, उन्हें अप्रमाण मानते हैं। जगते के कोई ज्ञान बाधारहित देखे जाते हैं तो स्वप्न के भी कई ज्ञान बाधारहित हो जाते हैं। तो फिर स्वप्न के समय का वह ज्ञान भी प्रमाण बन जाये। इससे यह निर्णय नहीं हो सकता कि इन-इन अर्थों वाले अविसम्बादी ज्ञान प्रमाण हैं। इस प्रकार प्रमाण के बारे में अब क्या निर्णय करना? यह निर्णय रखना कि वह ज्ञान जिसमें यह निर्णय पड़ा है कि यह, ज्ञान भी सही है और यह पदार्थ भी सही है, ऐसी जहाँ चेतना जग रही हो वह ज्ञान प्रमाण है।

हमको एक बार स्वप्न में ज्ञानानुभव हुआ। आप सुनेंगे तो कुछ अचरज-सा मानेंगे कि आत्मानुभव स्वप्न में कैसे? करीब ८ वर्ष हो गए होंगे। हमारे सहवासी गोहदनिवासी ब्र० छोटेलाल जी के अनुरोध से हम गोहद गये थे, वहाँ से फिर मौ जा रहे थे। गोहद से मौ करीब १६- १७ मील पड़ता होगा। तो चलते-चलते शाम तक हम बिल्कुल थक गए, और रात को एक जगह विश्राम किया। हमारे साथ में ब्र० छोटेलालजी गोहद वाले थे। उनका निवास गांव था दंदरौवा, जहाँ से मौ करीब ५ मील दूर था। तो वहाँ हम ठहर गए। अब शाम का समय था, खूब थक गए। अब वह छोटेलाल जी भी कहाँ बैठे और वही हम सो रहे और वहाँ छोटेलाल जी की बहुवें आर्यों, नाती-पोतों की तरह वे भी छोटेलाल जी से बातें कर रहीं, हम नींद ले। रहे और सोते हुए में उन लोगों की कुछ-कुछ अनसुनी जैसी बातें सुन रहे। फिर खूब तेज नींद आयी और सुबह के बाह्यमुहूर्त का समय होगा वहाँ हम एक ऐसा स्वप्न देख रहे कि हमारे सामने दो महिलायें, देवियों जैसी मुद्रा शृङ्गार में बैठी हैं और हम अपनी सामायिक में बैठे हुए हैं, सामने वे दो महिलायें धर्मभाव का गीत गा रही हैं, खुश हो रही हैं। उस ही बीच में हम सब ओर का ख्याल भूलकर और एक अपने में ज्ञानमात्र ऐसी दृष्टि बनाये हैं, है सब स्वप्न की बात, पर स्वप्न में भी ज्ञान तो होता है, जानना तो चलता ही रहता है। उस समय उनके संगीत के गायन के गीत बड़े मधुर गीत, कोई साधारण गीत नहीं, एक बड़ा अलौकिक गायन था मानो देवियों का गायन हो। उस बीच में उनके गायनों का विकल्प छूटकर एक जो अपने आपके स्वरूप में मेरे ज्ञान की वृत्ति लगी तो मुझे आत्मानुभव का अलौकिक आनन्द मिला। है स्वप्न की बात। उसके बाद जब नींद खुली तो ऐसा लगा कि क्यों नींद खुल गई? वही बात जरा और देर तक अनुभव में आती। तो स्वप्न में क्या ज्ञान नहीं चलता? पर वहाँ भी उसकी अर्थक्रिया चल सकती है। तब फिर प्रमाण क्या है, इसका निर्णय तो समस्या में न बनेगा। प्रमाण का केवल यही लक्षण है कि हित की प्राप्ति कराये और अहित का परिहार कराये, ऐसा जो समर्थ ज्ञान है वह प्रमाण है।

व्यवहार से ही प्रामाण्य तथा मोहनिवर्तन के अर्थ ही शास्त्र की मान्यता का समाधान—अब इस प्रसंग में पुनः क्षणिकवादी कहते हैं कि सुनो—प्रमाण अप्रमाण का झगड़ा यह तो व्यवहार की चौज है। व्यवहार से ही प्रमाण हैं और व्यवहार से ही अप्रमाण है। उसका परमार्थ से क्या मतलब? अच्छा, और फिर शास्त्र की बात? कहते कि शास्त्र प्रमाण नहीं होते। शास्त्र का तो इतना ही। प्रयोजन है कि मोह दूर करा दे। यह बौद्ध कहते हैं और प्रमाण का मतलब इतना ही है कि कोई ज्ञान होता है और वह प्रमाण होता है। और शास्त्र भी कोई वास्तविक चीज हो, यह कुछ नहीं है, किन्तु शास्त्र तो हैं मोह दूर करने के लिए और प्रमाण है व्यवहार चलाने के लिए—ऐसी शङ्काकार अपनी पढ़ा रखता है, क्योंकि उनका जानना तो इतना ही है कि निर्विकल्प दर्शन। क्षणिक है पदार्थ, क्षण-क्षण में नये-नये पैदा होते हैं इसीलिए उनके पदार्थ अहेतुक माने गए हैं। नया-नया पदार्थ है। एक पदार्थ का दूसरे से क्या मतलब? तो यह प्रमाण है या अप्रमाण, यह प्रश्न न लगना चाहिए, क्यों यह तो व्यवहार की बात है। योगियों की, संन्यासियों की साधना की बात नहीं है। तो उत्तर उसका साधारण यही है कि अगर शास्त्र में भी प्रमाणता नहीं और अपने बोध में भी प्रमाणता नहीं तब तो शास्त्र से मोह कैसे दूर होगा? और जब शास्त्र से मोह दूर न होगा, फिर शास्त्र रचे ही क्यों गये? जो पक्का नहीं, प्रमाण नहीं वह मोह को कैसे दूर

करे? और जब मोह दूर न कर सके तो शास्त्र बनाये क्यों गए? यदि शङ्काकार यों कहे कि जैसे व्यवहार से मोह हो जाता है ऐसे ही शास्त्र से मोह हट जायेगा, सो बात नहीं। मोह जीवों को हो रहा है। विषय वासना अनादि से लगी है सो प्रकृति उदय में। पर मोह दूर होगा तो अटपट बात से न होगा। प्रमाणिक युक्तिसंगत अनुभव में उतरे, ऐसे ज्ञान के द्वारा ही मोह दूर हो सकता है। केवल बातों से मोह दूर नहीं हो सकता। अगर यों शास्त्र के कथनमात्र से मोह दूर हो जाये तो जिस किसी का भी शास्त्र से मोह दूर हो जाना चाहिए। तो शास्त्र से मोह दूर नहीं होता किन्तु सम्यग्ज्ञान से मोह दूर होता। शास्त्र को पढ़कर जब ज्ञान सही बनता है कि वास्तविकता तो यह है तब वहाँ मोह दूर होता है।

निज पारमैश्वर्य की संभाल में अपनी सच्ची संभाल—अब फिर से अपने आप पर जरा आइये। हमारा सर्वस्व हमारा ज्ञान है, इस ज्ञानघन की तो फिक्र नहीं करते और बाहरी ऊपरी बातों की इतनी चिन्ता बनाते। सो इस आग्रह में यह दुर्लभ पाया हुआ मनुष्य जन्म व्यर्थ चला जायेगा। कषायों के प्रति तो ऐसी बुद्धि रखें कि कषायों की शुरूवात मुझमें मत हो। ये कषायें अनर्थ करने वाली हैं। मैं इनसे अलग रहकर एक ज्ञानमात्र अंतस्तत्व का अनुभव करूँ। ज्ञान ही मेरा धन है। देखो कितना ऐश्वर्य है कि हम आप स्वयं स्वभाव से परमेश्वर हैं। ज्ञान और आनन्द हमारा ऐश्वर्य है, और वह ज्ञान और आनन्द मेरा स्वरूप है, वह ज्ञानानन्द कहीं बाहर से लाना नहीं है, मेरा स्वरूप है, मुझमें है, मुझमें ही प्रकट होता है। बस एक सही ज्ञान बने कि मेरा ज्ञान और आनन्द मुझमें अपने आप से प्रकट होता है। देखो बात यहाँ दो हैं—ज्ञानानन्द और दुःख आकुलता, कष्ट क्षोभ याने सर्वविकार—ये दो बातें सामने रखो। तो जैसे ज्ञानानन्द की बात है ना कि ज्ञानानन्द निरपेक्ष होकर मेरे में मेरे से ही प्रकट होता है ऐसे ही यदि विकार के लिए मान ले कोई कि ये रागादिक विकार भी मेरे में मेरे से अपने आप निरपेक्ष प्रकट हुए, तब फिर दोनों का यह खिचड़ी बन गया, फिर कुछ न चलेगा। आपको अकादय श्रद्धा रखनी होगी कि विकार मेरे में मेरे से निरपेक्ष नहीं बने। वे कर्मोदय विपाक का निमित्त पाकर और बाहरी उपचरित निमित्तों का आश्रय लेकर ये विकार बने हैं जो अनुभव में आ रहे। तब समझो इनका निषेध कैसे कर सकेंगे? यों कि विकार मेरे स्वरूप नहीं, ये नैमित्तिक हैं, परभाव हैं।

उपयोग से विकार को दूर कर ज्ञानानन्दामृत का पान करने में आत्मकल्याण—भैया! ! आपको ज्ञानानन्द का भोजन करना है तो उस राह से चलें और जैसे अपना ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी दृष्टि में आये उस प्रकार से अनुभव बनायें। ज्ञानानन्द के अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे मेरे स्वरूप नहीं, वे मेरे में मेरे निमित्त से नहीं हुए, किन्तु परसंग पाकर हुए। परसंग पाकर जो विकार हुए वे परभाव हैं, पर की माया छायी हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं है, इसलिए सही बोध बनाकर पहले इन विकारों को उपयोग से बाहर निकालें तब अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि हम कर सकते हैं। जैसे ज्ञानानन्द हमारे गांठ की चीज है, ऐसे ही विकार भी हमारे गांठ की चीज हैं, ऐसी श्रद्धा रहेगी तो वहाँ ज्ञानानन्द का अनुभव नहीं हो सकता। वेदान्त की जागदीशी टीका में एक उदाहरण क्या है कि शक्ति की दूकान में रहने वाली चींटी एक बार नमक की दूकान में रहने वाली चींटी के पास गई और उसने कहा—बहिन यहाँ तुम क्या खारा-खारा खा रही हो। मेरे साथ चलो ना, मीठा ही मीठा खावो। उसने बहुत-बहुत समझाया तब वह चली तो सही, पर यह सोचकर कि वहाँ कुछ खाने को

न मिले और लंघन करना पड़े तो बुरा रहेगा सो अपने मुख में नमक की डली लेकर चली । जब वहाँ शक्कर की दुकान में पहुंच गई तब शक्कर की चींटी ने पूछा—कहो बहिन अब मीठा-मीठा लग रहा ना? तो नमक की चींटी बोली कि हम को तो कुछ भी मीठा नहीं लग रहा । तो फिर शक्कर की चींटी बोली तुम मुख में कुछ रखे तो नहीं हो? हाँ एक नमक की डली मुख में दाढ़कर साथ ले आयी हूँ । अरे इस नमक की डली को तू बाहर फेंक दे तब मुझे मीठे का स्वाद आयेगा । तो ऐसे ही भाई इस उपयोग को परभाव जानकर, नैमित्तिक जानकर, परप्रतिफलन जानकर इनको उपयोग द्वारा फेंक दें । ये मेरी चीज नहीं हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा उससे पहले हटाव बने और फिर अपने स्वरूप में नित्य अन्तःप्रकाशमान उस सहज ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि करें तो ज्ञानानन्द स्वरूप का अनुभव मिलेगा । उस ज्ञान के बारे में दर्शनिक विधि से यह चर्चा चल रही है कि वह ज्ञान क्या चीज है? प्रमाण क्या वस्तु है? तो प्रमाण कोई व्यवहार मात्र की बात नहीं है कि लोक में व्यवहार में जहाँ-जहाँ किसी को कोई भी बात प्रमाणता आ गई तो प्रमाण है । साक्षी भुक्ति, लेखन, दस्तावेज, जिस किसी भी तरह प्रमाण मानने लगे सो बात नहीं । प्रमाण ज्ञान ही होता । अज्ञान प्रमाण नहीं होता । अज्ञान में दोनों ही बातें आ गईं । न तो ये अजीव पदार्थ प्रमाण कहलाते और न खोटा ज्ञान प्रमाण कहलाता किन्तु जहाँ स्व और अर्थ का निश्चय पड़ा हुआ है वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

क्षणिकवादसम्मत प्रमाण लक्षणों की असिद्धि—प्रमाण के वर्णन के प्रसंग में क्षणिकवादी यह बात कह रहे हैं कि प्रमाणपना तो व्यवहार की चीज है । वास्तव में प्रमाणपना और अप्रमाणपने से क्या मतलब? एक बात । दूसरी बात यह है कि शास्त्र जो बनाये गए हैं वे कोई तत्त्व की सिद्धि के लिए नहीं, न प्रमाण बताने के लिए । किन्तु उन्हें पढ़े कोई और उनका मोह दूर हो जाये, इसके लिए शास्त्र बनाये गए । जैसे कि बहुत से लोग कम पढ़े लिखे भी हों, मन्दिर आते हैं, श्रद्धा से शास्त्र उठाते हैं, १०-५ लाइन बाँचते हैं तो उनके उपयोग में यह रहता कि मोह से हटे रहना । तो शास्त्र उठाना, पढ़ना, इनमें दिल लगाना, उससे मोह दूर होता है । शास्त्र का इतना ही प्रयोजन है । शास्त्र से कोई तत्त्व या प्रमाण की बात आती हो । सो नहीं । ऐसा कहने वाले ये क्षणिकवादी यह भी कहते हैं कि जो युक्ति से बात घटित नहीं होती है उस बात को देखकर भी हम तो श्रद्धा न करेंगे, ऐसा उनका संकल्प है । जैसे कि मानो एकदम हाथी दिख गया तो दिखते ही हम हाथी की श्रद्धा न करेंगे । हाथ पैर सूंड देखकर फिर विचार बनायेंगे कि ऐसे अंग जिसमें होते वह हाथी है । तो जब युक्ति से उस बात को समझ लेंगे तब हम इसकी श्रद्धा करेंगे, ऐसा कहते हैं क्षणिकवादी । तो अब बतलावो यहाँ प्रमाणपने को भी युक्ति से ही श्रद्धा करने लायक बताया है, तो युक्ति की प्रधानता हो गयी ना अब । तो कैसा यह बाधित वचन है, वचन से कभी कुछ कह दिया, कभी कुछ । अभी तो कह रहे थे कि युक्ति कुछ चीज नहीं, प्रमाणपना व्यवहार में है, शास्त्र मोह दूर करने के लिए हैं । अब यहाँ बोल रहे हैं कि जो बात युक्ति से घटित न हो, चीज दिख जाये तो भी मैं उसकी श्रद्धा नहीं करता । तो ये तो परस्पर बाधित वचन हुए । इस प्रकार प्रमाण के लक्षण जितने क्षणिकवादियों ने कहे अब तक उनमें दोष है, इस कारण वे सही लक्षण नहीं हैं ।

क्षणिक व विष्वभूत अणुओं में अर्थक्रियास्थिति की असंभवता—अभी आखिर में इसका लक्षण यह बताया है कि जहाँ अर्थक्रिया ठहरे बस वह प्रमाण है । जैसे पानी समझा तो देखो अब पानी पीने लगे, उस समय जो

पानी का व्यवहार हुआ उससे समझा कि जो पानी जाना वह सच बात है। किसी भी बात को जानना सच तब है, जब कि वह काम में आये, ऐसा इसका एक अन्तिम कथन था, लेकिन कितनी अचम्पे की बात है कि ये क्षणिकवादी बौद्धजन पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। पदार्थ एक क्षण को रहता है, दूसरे क्षण नहीं रहता। तो जब एक क्षण में ही पदार्थ रहता है, तब दूसरे क्षण रहता ही नहीं है तो उसका जो ज्ञान होगा एक तो निश्चय वाला नहीं हो सकता, क्योंकि जब निश्चय करेंगे तो पदार्थ मिट गया, जिसका निश्चय करना है और जिस समय पदार्थ है उस समय एक झाँकी भर हो पायेगी, निश्चय हो ही नहीं सकता। तो जहाँ कुछ निश्चय भी नहीं हो सकता वहाँ अर्थक्रिया होगी ही क्या? तब अर्थक्रिया ठहरना यह प्रमाण का लक्षण है, सो ठीक नहीं बैठता। दूसरी बात देखो—ये क्षणिकवादी इन दिखने वाले पदार्थों को झूँठ कहते हैं, जो दिख रहा है वह असत्य है। सत्य तो इसमें एक-एक परमाणु और परमाणु बिखरे ही रहते हैं उनका मिलकर कोई पिंड नहीं बनता। तो जहाँ परमाणु मिल भी नहीं पाते, न परमाणु का मिलकर कोई पिंड बनता तो अर्थक्रिया उनमें सिद्ध ही क्या होगी? तब घड़ा ही नहीं है उनकी दृष्टि में, अलग-अलग भिन्न-भिन्न बिखरे-बिखरे परमाणु हैं, तो ऐसे बिखरे भिन्न परमाणुओं में क्या पानी भरा जाता है तो जहाँ पिंड भी नहीं माना गया और सब परमाणु विभिन्न होते हैं, उनको अर्थक्रिया का ठहरना बिल्कुल एक हँसी की बात है। लो क्षणिकवादियों की अक्रिया का ठहरना नहीं बनता। इस कारण से प्रमाण का लक्षण जो बताया वह उचित नहीं है।

क्षणिकवादसम्मत छठे प्रमाणलक्षण अज्ञातार्थप्रकाश की समस्या व समाधान—अब छठी बात रख रहे हैं क्षणिकवादी कि प्रमाण का लक्षण वास्तव में तो यह है कि अज्ञात अर्थ का प्रकाश हो जाना। जो चीज जानी नहीं गई अब तक उसका परिचय होना, प्रकाश होना यह प्रमाण है, ऐसा क्षणिकवादियों का कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ यह संकल्प बनाया कि अज्ञात पदार्थ का प्रकाश होना प्रमाण का लक्षण है तो बौद्धों ने प्रमाण दो माने हैं केवल—प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष में तो इन्द्रिय मन से जो साक्षात् ज्ञान हुआ वह प्रत्यक्ष है उसके बाद उसका जो विचार बना वह अनुमान है। जैसे धुवाँ को देखकर अग्नि का अनुमान होता कि इस जगह में अग्नि है, क्योंकि धुवाँ उठ रहा है या अन्य-अन्य अनुमान जब मानते हैं तो अनुमान तो वहाँ ही बनता जहाँ कुछ चीज पहले जानी हो और उसे जाना जा रहा हो। धुवाँ पहले जाना, अग्नि पहले जाना, अब उस जाने हुए में धुवाँ दिख गया तो अग्नि को फिर जाना तो यह तो अज्ञात अर्थ का ही जानना हुआ। किसी न किसी प्रकार से जिसे पहले जाना हुआ है उसी का ही ज्ञान बना, और यह संकल्प कर रहे हैं शङ्काकार कि जो न जाना हो कभी, जो न ग्रहण किया हो कभी, उस पदार्थ का प्रकाश होना प्रमाण है, तो यह लक्षण अब तो नहीं बना। अगर ऐसा ही लक्षण बनाने की हठ रखेंगे तो अनुमान प्रमाण नहीं रह सकता, क्योंकि अनुमान उस गृहीत को ही ग्रहण करता है। यदि शङ्काकार यह कहे कि भले ही प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण हुआ है और फिर उसका अनुमान किया है, लेकिन प्रत्यक्ष से ग्रहण हो जाने पर भी उन क्षणिकपना आदिक साध्यों में संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय बीच में आ गए थे तो उनको दूर करने के लिए यह अनुमान प्रमाण बना, इसलिए अनुमान में प्रमाणता आती है। जैसे क्षणिकवादियों ने किसी पदार्थ को देखा और क्षणिक समझ गए, मगर वह तो क्षणभर की झाँकी है। अब उसके बाद उसमें संशय हो, विपर्यय हो, निश्चय नहीं है तो फिर उसका जो निर्णय

किया गया वह अनुमान से हुआ तो संशय आदिक बीच में आने से उनके दूर करने के लिए अनुमान बना, इस कारण अनुमान में प्रमाणता है। तो समाधान इसका स्पष्ट है कि गृहीतग्राही होने पर जब अनुमति प्रमाण मान लिया संशय आदिक दूर करने से तो ऐसे ही स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क इन्हें भी प्रमाण मान लेना चाहिए। क्षणिकवादी दो प्रमाण मानते हैं, तो जो बात अनुमान में है—गृहीत को ग्रहण करना, जाने हुए को जानना सो बात स्मरण में है, प्रत्यभिज्ञान में है, फिर इन्हें क्यों नहीं प्रमाण मानते? और प्रमाण अगर मान लिया स्मरण आदि से, जैसे कि स्मरण हुआ वह है वहाँ तो पहले देखा था तब तो स्मरण है तो गृहीतग्राही होना अनुमान प्रमाण है, ऐसे ही गृहीतग्राही स्मरण भी प्रमाण है। तब प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे ही दो प्रमाण हैं—यह बात तो न रही। यदि शङ्काकार कहे कि हम दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान, मगर प्रत्यक्ष को तो मानते हैं मुख्य प्रमाण और अनुमान को मानते हैं हम व्यवहार से प्रमाण याने गौणरूप से प्रमाण। तो समाधान यह है कि इसी तरह तो चार्वाक माना करते हैं, फिर उनको दोष क्यों दिया? चार्वाक का, एक सिद्धान्त है कि जो दिखता है वह प्रमाण है और जो नहीं दिखता वह कुछ चीज नहीं स्वर्ग, नरक, लोक, परमाणु आदिक जो दिखते ही नहीं हैं वे कुछ नहीं हैं। तो वह लोक भी जब प्रत्यक्ष को प्रमाण सिद्ध करता है तो अनुमान लगाकर करता है, तो उनसे कहा जाये कि अनुमान तो तुम मानते ही नहीं और अनुमान से ही तुम सिद्ध करते हो, तो उनका भी यह ही कहना होता है कि अनुमान गौणरूप से प्रमाण है। यही बात क्षणिकवादी मानेंगे तो फिर अन्तर ही क्या रहा? इस तरह क्षणिकवादियों द्वारा बताये गए प्रमाण में छहों लक्षण दृष्टित हैं। लक्षण केवल यह सही है कि जो स्व और अपूर्व अर्थ का जानना करे वह ज्ञान प्रमाण है।

मीमांसकसम्मत सर्वथा अपूर्वार्थग्राही प्रमाण की मीमांसा—अब इस समय मीमांसक सिद्धान्त का अनुयायी एक प्रस्ताव रख रहा है कि भाई क्षणिकवादियों का प्रमाण का लक्षण तो सही न रहा, पर हम बतलाते हैं कि यह है प्रमाण। क्या है भाई? जो अपूर्व अर्थ का विज्ञान हो, निश्चित हो, बाधारहित हो और निर्दोष कारण से बनता हुआ हो और लोकसम्मत हो, सब लोग उसको मान जायें वह प्रमाण है। कितनी बात रखीं, जो अपूर्व अर्थ का विज्ञान हो और निश्चित हो, बाधारहित हो, निर्दोष कारण से रचा हुआ हो और सब लोगों की सम्मति मिल जाये, ऐसी १५ बातें जहाँ हों वह प्रमाण है ऐसा मीमांसक सिद्धान्त वाले प्रमाण का लक्षण रख रहे हैं। हर एक बात पर ऋम से अब विचार करो। पहले कहा गया कि जो अपूर्व अर्थ का विज्ञान हो, सो यदि ऐसा एकान्त करने लगे कि जो सर्वथा अपूर्व अर्थ का विज्ञान हो वह प्रमाण है तो इसके मायने यह है कि गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण नहीं होता, याने जो बात कुछ भी पहले से जान रखी हो उस चीज को जान जाये वह प्रमाण न होगा। तो जब गृहीतग्राही प्रमाण न रहा तो अनुमान आदिक जो प्रमाण मानते हैं मीमांसक उनका कैसे प्रमाण सिद्ध हो सकेगा? मीमांसक स्वयं ऐसा कहते हैं कि शब्द नित्य हैं क्योंकि ये प्रत्यभिज्ञान से जाने जाते हैं। — इसका भाव यह है कि शब्द के बारे में यह ज्ञान बना रहता है कि यह शब्द वही है जो सुबह सुना था, जो कल सुना था और कह ही देते हैं लोग। जितनी गाली कोई रोज देता हो और आज दे रहा हो तो लोग कह देते कि अरे कोई नई बात नहीं है, वे शब्द तो इसके पुराने हैं। तो ऐसा प्रत्यभिज्ञान बनता है शब्द में, इस कारण शब्द नित्य कहलाते हैं। ऐसा कथन मीमांसकवादियों का है। तो यहाँ यह ही बात तो आ गई ना कि

गृहीत ग्रहण बन गया । यह शब्द जो आज सुन रहे हैं वही शब्द कल सुना था । तो कल के शब्द का ज्ञान है उसी का आज कर रहे तो जाने हुए का ही ज्ञान किया जा रहा तो अब यह प्रमाण न रहना चाहिए । उत्तर में मीमांसक जनों ने यह संकल्प किया है कि जो अपूर्व अर्थ का विज्ञान हो वह प्रमाण है । यदि ये मीमांसक जन यह कहें कि भले ही बहुत जान लिया, फिर भी उसे भूल गए थे, फिर से ख्याल कर रहे हैं, इस कारण अपूर्व अर्थ बन जायेगा, याने चीज बन जायेगी । तो समाधान स्पष्ट है कि जब जानी हुई चीज का निश्चय हैं फिर जानना इसमें विषय नया बन गया तो फिर अनुमान तर्क आदिक थे सब भी प्रमाण बन जाने चाहिएं । इससे ऐसी हठ मत पकड़ें कि जो सर्वथा अपूर्व अर्थ का ज्ञान किया जा रहा हो, वह प्रमाण है । अरे किसी अंश में अगृहीत है वह विषय और किसी में गृहीत रहा आवे, कथंचित् अगृहीत का ग्राही होना चाहिए, सर्वथा अगृहीत का ग्राही हो ऐसा आग्रह न करो । यदि यह कहो कि यह प्रत्यभिज्ञान तो प्रत्यक्ष ज्ञान है तो लो अब और इसमें दोष आया । प्रत्यक्ष भी गृहीतग्राही बनने लगा तो यों प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही मानना हो जाएगा । और गृहीतग्राही होने से वह अप्रमाण नहीं, किन्तु कथंचित् गृहीतग्राही है और कथंचित् अगृहीतग्राही है । तो यह आग्रह न करो कि जो सर्वथा अपूर्व अर्थ का विज्ञान है सो प्रमाण है ।

प्रमाण के लक्षण के प्रसंग में प्रकरण का पुनः स्मरण—मोक्षशास्त्र के प्रथम अध्याय में पदार्थों के जानने का उपाय बताया है । तो सर्वप्रथम कहा गया कि प्रमाण और नयों से वस्तु का अधिगम होता है । तो प्रमाण क्या चीज है? उसका वर्णन करने के प्रसंग में प्रमाण के भेदों को बताया था और अब बतला रहे हैं कि पाँच प्रकार के ज्ञान तो प्रमाणरूप है । यह सब समझने से पहले यह जानन जरूरी है कि प्रमाण का लक्षण क्या है? प्रमाण कहते किसको हैं? इस सम्बंध में बहुत चर्चा चली । आखिर मीमांसक यह कहने लगे कि प्रमाण का लक्षण तो यह सही है कि जो अपूर्व अर्थ को जानता हो याने नये पदार्थों का, जिसका ज्ञान न किया गया हो अब तक, उसको जानता हो वह ज्ञान प्रमाण हैं और जिसमें बाधा न हो वह ज्ञान प्रमाण है और जो निश्चित किया गया हो तथा जो निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ हो और जो सर्वलोकों द्वारा सम्मत हो उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । मीमांसकों के ये लक्षण ५ प्रकार के कहे गये हैं वे । ५ बातें व्यर्थ सी हैं, लक्षण के लिये । क्योंकि, प्रमाण का निर्दोष लक्षण है कि जो खुद को और अपूर्व अर्थ को जाने वह ज्ञान प्रमाण है । तो इन दो विशेषणों वाले प्रमाण के लक्षणों में पहली बात तो कहीं दी गई कि जो अपूर्व अर्थ को जाने । जैनसिद्धान्त भी कहता है कि जो अपूर्व अर्थ को जाने वह ज्ञान प्रमाण है, और मीमांसक भी कह रहे, पर फर्क एकान्तवाद का है ।

प्रमाण के लक्षण में एकान्ततः अपूर्वार्थविशेषण की अयुक्तता—अपूर्व अर्थ ही जाना जाये यह तो केवल प्रत्यक्षज्ञान में ही संभव हो सकता है । अन्य में तो किसी न किसी तरह पहले जान लिए गए हैं पदार्थ उसी के बारे में जाना जाता है, जैसे स्मरणज्ञान । किसी चीज का स्मरण हुआ तो जिसको स्मरण से जाना वह चीज पहले जान ली गई थी । प्रत्यक्ष से कभी देखा था, उसको आज ख्याल कर रहे हैं । बम्बई का ऐसा समुद्र है, तो समुद्र पहले जान तो लिया था आंखों देखकर, आज उसका स्मरण कर रहे तो इस स्मरण ने जिस समुद्र को जाना वह सर्वथा अपूर्व न रहा, और उसको पहले जान लिया था, उसी को जाना जा रहा । तो यदि यह एकान्त करते हैं कि जो अपूर्व अर्थ को जाने सो ही प्रमाण है । जाने हुए को जाने, सो प्रमाण

नहीं, ऐसा एकान्त करनेपर तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदिक सभी अप्रमाण हो जायेंगे। इस कारण अपूर्व अर्थ को जाने सो प्रमाण है, ऐसा कथन युक्त नहीं है, किन्तु जो खुद को और अर्थ को जाने वह प्रमाण है। यद्यपि अपूर्व अर्थ को जानना भी बताया है प्रमाण के लक्षण में, किन्तु सर्वथा अपूर्व अर्थ नहीं। किसी अंश में नई बात जाने सो प्रमाण है, क्योंकि जितने अंशों में पहले जाना था उतने अंशों में बराबर जानते रहे, तो ऐसा कोई कहता रहे तो उसे लोग पागल जैसी बात समझेंगे। जैसे पागल पुरुष एक ही बात को दिनभर कहता रहता है, ऐसे ही एक ही बात को उतने ही अंशों में बराबर जानें तो वह धारावाही ज्ञान कहलाता है। धारावाही ज्ञान प्रमाण न बन जाये, इसके लिए तो आवश्यक है कि प्रमाण के लक्षण में अपूर्व अर्थ विशेषण में दिया जाये, किन्तु इस विशेषण का अर्थ सर्वदेश नहीं है। किस देश में अपूर्व अर्थ हो, उसे जाने सो प्रमाण कहलाता है। तो मीमांसकों ने जो प्रमाण के लक्षण में पहली बात कही थी कि बिल्कुल नये पदार्थ को जाने, जो कभी जाना ही नहीं गया, ऐसी बात को जाने सो ज्ञान प्रमाण है। ऐसा कहने में प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण बन जायेगा। प्रत्यभिज्ञान का अर्थ है कि जो बात पहले समझी गई और जो उसी के बारे में आज समझा जा रहा तो आज की समझ का और पहले के समझे पदार्थों को जोड़कर वह प्रत्यभिज्ञान है। जैसे यह वही बालक है जिसको गत वर्ष देखा था अथवा यह गाय रोज की तरह है। तो किसी तरह पूर्व के जाने गए ज्ञान में और आज के जाने हुए ज्ञान में जोड़ हो वह प्रत्यभिज्ञान है। तो प्रत्यभिज्ञान ने कुछ नया तो नहीं जाना। जो पहले जाना था उसको ही आज समझ रहे हैं। तो ऐसा अगर कहा जाये कि अपूर्व अर्थ को जाने सो प्रमाण। तो प्रत्यभिज्ञान ने अपूर्व अर्थ तो नहीं जाना पहले जाने हुए को ही जाना। तो इस हठ में प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण हो जायेगा। इस प्रकार शंकाकार कहता है कि प्रत्यभिज्ञान तो प्रत्यक्ष ज्ञान है। तो लो और भी आपत्ति आयी कि ऐसा प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो गया। उस प्रत्यक्ष ने भी पहले जाने हुए को ही जाना था। यदि। यह कहो कि पहले जाने हुए को नहीं जाना, क्योंकि पहले जिस बालक का जाना था और आज जिस बालक को जान रहे हैं, इन दोनों में जो बीच की एकता है तब से लेकर अब तक यह रहा आया, उस एकता को जाना तो वह एकता एक नई चीज है। तो समाधान में सोचो कि वह एकपना क्या पहले और अब के पदार्थों से न्यारी है? एक है। अगर न्यारी है तो प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता, अगर एक है तो अपूर्व अर्थ नहीं बनता। इस कारण यह मान लेना चाहिए कि किसी अंश में पूर्व का अर्थ हो उसका ज्ञान प्रमाण है, यह तो बनता है, मगर सर्व देश में अपूर्व हो, बिल्कुल नया हो, उसे जाने, ऐसी बात ज्ञान में सम्भव नहीं है। तो मीमांसकों ने जो पहले विशेषण दिया वह विशेषण युक्त नहीं जंचता। तो प्रमाण का यह लक्षण कि जो स्व और परपदार्थ को जाने सो प्रमाण है—ऐसा कहने में प्रमाण की सारी बात आ जाती है। अब अपूर्व अर्थ यह एकान्त में विशेषण दिया जा रहा है। थोड़ी उसकी विशेषता बताने से अपूर्व अर्थ का ज्ञान प्रमाण है—कैसे कहा जा सकता है? मगर उसमें यह ही बात समझनी होगी कि कुछ बात नई है, बाकी बात पुरानों हुई है, उसे भी जाने सो भी प्रमाण है।

प्रमाण के लक्षण में बाधवर्जित विशेषण देने की अयुक्तता—इसी प्रकार अब दूसरा विशेषण देखिये—जिस ज्ञान पर बाधक प्रमाण नं आये वह ज्ञान प्रमाण है। जैसे रस्सी को साँप जाना था, अब थोड़ी देर में बाधक ज्ञान बन गया, यह तो रस्सी है, साँप नहीं है तो वह ज्ञान प्रमाण तो न रहा। किसी भी ज्ञान में प्रमाणता तब आती

है जब कि उसमें बाधक ज्ञान न आ सके । इस कारण को, बाधक ज्ञान के अभाव को प्रमाण कहते हैं, ऐसा मीमांसकों का कथन है, लेकिन इसमें भी आपत्तियों हैं । पहली बात तो यह ही समझें कि जिस पदार्थ को जाना जा रहा है उस पदार्थ का भली प्रकार निश्चय बन गया । बस इसी के मायने हैं कि वहाँ बाधक ज्ञान का अभाव है । अब किसी चीज को जानकर फिर यह विकल्प करें कि इसमें बाधक ज्ञान तो नहीं है और जब यह समझ में आया कि बाधक ज्ञान नहीं है इसलिए यह प्रमाण है तो ऐसा न कोई सोचता है और न इस तरह से प्रवृत्ति बनती है । किसी पदार्थ को जाने और भली प्रकार निश्चय हो गया कि यह वही पदार्थ है तो उसी के मायने प्रमाण का लक्षण है । तो यहाँ मीमांसक यह कह रहा था कि जिस ज्ञान में कोई बाधा न आये वह प्रमाण है और सिद्धान्त में यह कहा जा रहा कि जिस पदार्थ का पूरा निश्चय हो गया कि यह यही है वह प्रमाण है । यद्यपि बातें दोनों शामिल हो जाती हैं । जिस ज्ञान में इसका निश्चय है उसका अर्थ यह है कि इसमें बाधा डालने वाला कोई दूसरा प्रमाण नहीं आता । यह तो एक विशेषता है कि अगर ज्ञानका, प्रमाण का लक्षण बनाया जाये तो यहाँ के बाधक ज्ञान न आये सो प्रमाण है । तो इसमें तो लो किसी पदार्थ को जान लिया कि यह घड़ा है तो इस ज्ञान में बाधा डालने वाला कोई दूसरा ज्ञान तो न आ पायेगा । हां, न आ पायेगा, ऐसा निश्चय होने पर हम कहें कि यह हमारा सही ज्ञान है तो यह एक व्यर्थ का व्यायाम है । ऐसा जो हमको बहुत बार निश्चय हुआ है इसी का अर्थ यह है कि हमारे ज्ञान में बाधा डालने वाला कोई दूसरा ज्ञान नहीं आ सकता । तो यद्यपि यह बात सही तो है कि जो सही ज्ञान होता है उसमें बाधा डालने वाला कोई दूसरा ज्ञान नहीं आता । मगर यह तो पदार्थों के निश्चय से ही सिद्ध हो गया । अब भोले प्राणियों को एक चकमा देने के लिए ही अनेक विशेषतायें बनाना व्यर्थ है । अब यह शंकाकार कहता है कि जो बाधारहित ज्ञान है सो प्रमाण है । ऐसा कहने की आवश्यकता यों हुई कि प्रत्येक ज्ञान बाधक होने से पहले पदार्थ का निश्चय किया करता है और जब उसमें बाधक ज्ञान आ जाता है तो वह निश्चय नियत हो जाता है । तो आखिर बाधक ज्ञान न आये—इसके समझने पर ही तो प्रमाण बना । तो समाधान में कहते हैं कि इस तरह तो अप्रमाण ज्ञान से भी प्रवृत्ति बन जायेगी, क्योंकि बाधक ज्ञान होने से पहले उस ज्ञान में भी व्यर्थ निश्चय पड़ा हुआ है । इसलिए ठीक लक्षण सीधा मानो कि जो ज्ञान खुद को जान ले और पदार्थ को जान ले उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । खुद को जानने का अर्थ आत्मा को नहीं याने जो ज्ञान आत्मा को जाने और पदार्थ को जाने सो प्रमाण है, यह नहीं कह रहे, किन्तु जो ज्ञान खुद को जान ले कि हाँ यह ज्ञान सच्चा है और पदार्थ को जान ले उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । यदि मीमांसक ऐसा ही आग्रह करे कि जब बाधक ज्ञान के अभाव का ज्ञान हो जायेगा तब ही प्रमाणपने का निश्चय होगा और वह प्रवृत्ति का कारण माना जायेगा । जब यहाँ दो आपत्तियां हैं तो फिर ज्ञान को प्रमाण मत कहो । बाधक ज्ञान के अभाव को प्रमाण कहो, क्योंकि बाधक ज्ञान के अभाव का ज्ञान होने पर ही काम शुरू हो सका है । दूसरी बात यह है कि किसी एक पदार्थ को हम जान रहे हैं तो प्रमाण तो तब कहें कि जब उसमें बाधक ज्ञान न हो । तो बाधक ज्ञान नहीं है—उस ज्ञान को प्रमाण कब कहेंगे? जब उसमें भी बाधक ज्ञान नहीं है—यह बात बने तो उसका भी ज्ञान बने । तो यों अनवस्था दोष आयेगा । यदि कहो कि एक दो बाधक ज्ञानों का अभाव जानें, उसके बाद उसके ही निश्चय से बाधक ज्ञान का अभाव निश्चित

कर लिया जाये तो यह बात पहले ही पहले किसी पदार्थ को जानते समय क्यों न मान लें? याने जब हमने घड़ा देखा और यह निर्णय हुआ कि यह घड़ा है बस ठीक है, योग्य प्रमाण है। अब यह ही हमारा निश्चय यह बतला रहा कि प्रकृत ज्ञान में बाधक ज्ञान का अभाव है। तो बाधक ज्ञान का अभाव है—ऐसी समझ बनाने की बात कोई प्रमाण होती है, ऐसी परिभाषा न बनावें, किन्तु पदार्थ का निश्चय हो जाये सो प्रमाण है।

सर्वत्र सर्वदा बाधवर्जितता का निर्णय अशक्य होने से बाधवर्जित विशेषण की अनुपयुक्तता—मीमांसकों ने प्रमाण के लक्षण में ५ बातें कहीं—अपूर्व अर्थ का विज्ञान हो और निश्चित हो, बाधारहित हो, दोषरहित कारण से उत्पन्न हुआ हो तथा सर्व लोक से सम्मत हो, इन ५ विशेषणों में से बाधार्जित विशेषण पर चर्चा चल रही है। मीमांसकों का सिद्धान्त है कि, कोई भी ज्ञान तब प्रमाण कहलाता है जब यह बात बन जाये, ज्ञान में आ जाये कि इसका बाधक कोई ज्ञान नहीं है। समाधान में यह कहा गया है कि बाधक ज्ञान है या नहीं, ऐसा विकल्प करना व्यर्थ है, किन्तु जिस पदार्थ को जाना जा रहा है उस पदार्थ का निश्चय है या नहीं, बस इस पर ही प्रमाणपने की बात बनती है। यदि पदार्थ का निश्चय है कि यह चौकी है तो अपने आप सिद्ध हो गया कि यह ज्ञान निर्वाध है। इसमें कोई बाधा नहीं। यदि बाधा नहीं है यह तकते फिरें तब तो प्रकृत बात को जानने में बहुत विलम्ब लगेगा। इससे यह ही समझना कि किसी पदार्थ को जान लेना बस इसी का ही अर्थ है कि कोई बाधा नहीं है, और भी इस सम्बंध में विचार करें। जब मीमांसक कह रहे कि किसी ज्ञान में बाधा नहीं आती। बाधक प्रमाण का अभाव होना यह निर्णय होने पर प्रमाणता आती है। तो बाधक ज्ञान का अभाव होना, क्या इसका यह अर्थ है कि सभी देश में, सभी समयों में बाधक ज्ञान का अभाव हो तब प्रमाण माना जाये? या कुछ ही देश में, कुछ ही समय को बाधक ज्ञान का अभाव होना प्रमाण माना जाये? यदि कहो कि सब देश में, सब समयों में बाधक ज्ञान है ही नहीं, ऐसा निर्णय होने पर प्रमाणता होती है तो भला ऐसा निर्णय कौन कर सकता है? अगर कोई समझता है कि सब देश में, सब काल में, इस ज्ञान में बाधा देने वाला कोई ज्ञान नहीं है तो वही सर्वज्ञ बनेगा। सर्वज्ञ तो यहाँ कोई है नहीं। तो किसी के ज्ञान प्रमाण ही न हो सकेंगे। यदि कहो कि कुछ देश में बाधक ज्ञान नहीं है, कुछ समय को बाधक ज्ञान नहीं है, इसमें प्रमाणता मान ली जायेगी तो इसमें तो संशय हो गया। यह बाधक ज्ञान नहीं और कहीं हो तो फिर प्रमाण अप्रमाण कैसे बने? इस कारण यह विकल्प छोड़ दो कि बाधक ज्ञान है या नहीं? वह तो पदार्थ के निश्चय के साथ ही समझ लिया जाता है। यही लक्षण ठीक है कि जो अपने को और पदार्थ को जाने सो प्रमाण।

प्रमाण की उत्पत्ति के प्रसंग में अदुष्टकारणारब्धता के निर्णय का अनवसर—अब चौथे विशेषण की बात सुनो—मीमांसक का कहना यह है कि ज्ञान यदि दोषरहित कारणों से उत्पन्न है तब तो प्रमाण है और दोष देने वाले कारणों से उत्पन्न हो तो अप्रमाण है। सीधा तात्पर्य यह बताते हैं कि सही आंख आदि से जाने तो प्रमाण है अर्थात् निर्दोष आंख से जाने तो प्रमाण है और आँख में कोई दोष हो, अंध हो, कामला हो, उन दोष वाली आंखों से जाने तो अप्रमाण है, यह कहना भी व्यर्थ का प्रलाप है, क्योंकि जो ज्ञान दोष वाले कारणों से उत्पन्न हो उस ज्ञान के द्वारा स्व और पदार्थ का निर्णय ही नहीं हो सकता। निर्णय हो रहा है तो बस वही प्रमाण है। प्रमाण का लक्षण स्वयं के और पदार्थ के निर्णय करने को ही कहते हैं। इससे अधिक विशेषण न देना चाहिए

और फिर दूसरी बात यह है कि अनेक लोग विपरीत ज्ञान को भी प्रमाण मान बैठते हैं, तो वहां यह कैसे समझा जाये कि यह सदोष कारण से उत्पन्न हुआ है, इस कारण प्रमाण नहीं है। सामने पड़ी है सीप और जान गए चाँदी। जब यह कैसे निर्णय हो कि दोष वाली आंख है? जिसकी निर्दोष भी आंख है वह भी सीप को कभी चाँदी समझ लेता। तो इस तरह निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ, इसके निर्णय में मत जावो। वस्तु को जो जाना जा रहा है तो उसकी जानकारी पर दृष्टि दें कि वस्तु का सही ज्ञान है अथवा नहीं? यदि यों देखने बैठेंगे कि दोषरहित कारणों से उत्पन्न हुआ हो तो पहले इन्द्रिय का ही ज्ञान करने बैठ जावो कि इसकी इन्द्रियाँ दोष सहित हैं या दोष रहित हैं। कोई किसी चीज को दिखाये तो पहले देखने वाले की आंखों की जाँच करने बैठें तब देखें, पर इस तरह तो व्यवहार नहीं बनता। और यों न अनुमान से निर्दोष सिद्ध कर सकते, न तर्क आदिक प्रमाणों से सिद्ध कर सकते। यदि यह कहो कि जब यह ज्ञान हो गया कि यह सही ज्ञान है उससे यह समझ लिया जायेगा कि निर्दोष इन्द्रिय से यह ज्ञान उत्पन्न हुआ तो इसमें तो इतरेतराश्रय दोष है। जब पहले जाने ले कोई कि निर्दोष इन्द्रिय है, इसको जो जान रहा है तब तो ज्ञान प्रमाण माना जायेगा और यहाँ यह कह रहे हैं कि ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान सही है, इससे यह समझा जायेगा कि इसकी इन्द्रियाँ निर्दोष हैं। तो इन्द्रियाँ निर्दोष सिद्ध हों तब तो ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध हो और जब ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध हो तो निर्दोष इन्द्रियाँ सिद्ध हो, तब तो कुछ भी सिद्धि न हो सकेगी। इससे पदार्थ की जानकारी में निर्णय बनावें। कि यह सही ज्ञान है अथवा नहीं? यदि यह कहो कि किसी भी पदार्थ को जानें तो यह ज्ञान सही है या नहीं, इसकी सिद्धि के लिए इन्द्रिय की निर्दोषता जानना चाहिए और इन्द्रियाँ निर्दोष हैं या नहीं, इसके समझने के लिए नया ज्ञान बन जायेगा। तो फिर वह नया ज्ञान भी सही है, इसके समझने के लिए फिर निर्दोष साधन देखने पड़ेंगे, इस तरह से अनवस्था दोष आ जाता है, और यों फिर प्रकृत ज्ञान का भी निर्णय न हो सकेगा। ऐसी अवस्था में २-४-६ ज्ञानों तक जाकर यदि यह कहा जाये कि कोई ज्ञान ऐसा होता है जो स्वतः प्रमाण है, उसके लिए निर्दोष साधन को देखने की आवश्यकता नहीं रहती। तो भला प्रथम ही प्रथम होने वाले ज्ञान को ही जानकारी के बल पर कोई नहीं प्रमाण मान लिया जाता। तो इस तरह निर्दोष साधन से उत्पन्न होने की बात भी युक्त नहीं जंचती। ज्ञान है, जान रहा है। पदार्थ में वह बात है या नहीं, इस आधार से प्रमाण और अप्रमाणपना हुआ करता है।

प्रमाण के लक्षण में सर्वलोकसम्मत विशेषण की असंगतता—इसी प्रकार जो ५वां विशेषण दिया है कि जो ज्ञान अनेक लोगों द्वारा समर्थित हो वह प्रमाण है, यह भी कोई निर्णय नहीं है। अज्ञानी जीव भ्रान्त ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान समझता है, तो क्या बहुत से लोगों के जान लेने के कारण वह प्रमाण हो जायेगा? जो वस्तु के सही धर्म को जाने वह ज्ञान तो प्रमाण है और जो वस्तुस्वरूप के विपरीत निर्णय करे वह ज्ञान अप्रमाण है।

प्रमाण की प्रमाणता की विधि पर विचार—यहां फिर मीमांसक कहता है कि देखो जितने भी प्रमाण होते हैं उनमें प्रमाणता का निर्णय खुद ही हुआ करता है और अप्रमाणता का निर्णय दूसरे ज्ञान से हुआ करता है। यदि ज्ञान में खुद, प्रमाणपने की ताकत न हो तो किसी दूसरे ज्ञान के द्वारा भी उसकी प्रमाणता निश्चित नहीं हो सकती। इस सम्बंध में सिद्धान्त यह है कि हम किसी चीज का ज्ञान करते हैं तो यदि रोज की समझी बूझी

चीजों का ज्ञान करते हैं तो ज्ञान की प्रमाणता तो खुद की बन जाती है किन्तु अपरिचित जगह गए और किसी अपरिचित चीज का ज्ञान करते हैं तो उस ज्ञान की प्रमाणता दूसरे ज्ञान से बनती है । जैसे जिस तालाब में रोज नहाते हैं उसके देखते ही ज्ञान हो जाता कि यह इतना गहरा है और कोई नये तालाब पर पहुंचे तो वह लाठी डालकर देखेगा कि कितना गहरा है, तब वहाँ उतरता है । जिस नदी को रोज पार करते हैं तो जब-जब भी पार करेंगे उसका सही ज्ञान तुरन्त रहता है कि इस नदी में इतनी गहराई है और इस रास्ते से चलने से पार हो जाते हैं । अब कहाँ दूसरे अपरिचित जगह में नदी मिले तो उसमें धीरे से पैर रखते हैं या आगे लाठी से निश्चय करते हैं कि कितना गहरा है तो उसका प्रमाणपना दूसरे ज्ञान से बनता है, जिसका सही भाव यह है कि इतने अभ्यास वाली बात में तो ज्ञान खुद प्रमाण बनता है और अनभ्यास की जगह में ज्ञान की प्रमाणता दूसरे ज्ञान से बनती है । सिद्धान्त तो यह है, पर मीमांसक यहाँ यह कह रहे हैं कि चाहे अभ्यास वाली बात हो, चाहे अनभ्यास वाली बात हो, जब भी ज्ञान होगा तो उसकी प्रमाणता खुद ही बन जाती है । ऐसा कहने वाले मीमांसक यह क्यों नहीं मान बैठते कि जैसे प्रमाण सब जगह खुद बन जाता है याने यह ज्ञान ठीक है । यह निर्णय उस ज्ञान से ही बन जाता है । उस ज्ञान के ठीकपने का निर्णय करने के लिए अन्य ज्ञान की जरूरत नहीं रहती । तो ऐसे ही अप्रमाण ज्ञान को भी स्वतः क्यों नहीं मान लेते? जैसे यह ज्ञान ठीक है यह निर्णय खुद मानते हो, ऐसे यह ज्ञान ठीक नहीं है यह निर्णय भी खुद क्यों नहीं होता, अप्रमाणता भी स्वयं आनी चाहिए, क्योंकि ज्ञान में तो कोई विशेषता नहीं है । प्रमाण हो रहा वहाँ भी ज्ञान है, अप्रमाण हो रहा वहाँ भी ज्ञान है । तो वहाँ निर्णय यह करना चाहिए कि जहाँ ज्ञान की ठिकाई समझने के लिए कुछ सोचना नहीं पड़ता, दूसरे ज्ञान से समझना नहीं पड़ता ऐसा ज्ञान तो खुद प्रमाण है और जिस ज्ञान का ठीकपना समझने के लिए कुछ सोचना पड़ता कि यह ठीक बात है या नहीं, हमने जो जाना वह सही है या नहीं ऐसा सोचने के लिए कुछ नया ज्ञान करना पड़ता है तो वह कहलाती है अनभ्यास दशा । वहाँ ज्ञान की प्रमाणता दूसरे ज्ञान से होती है । किसी भी ज्ञान में ऐसा नहीं है कि पहले तो वह साधारण ज्ञान बने और पीछे फिर प्रमाणपना या अप्रमाणपना की रचना की जाती हो । कोई भी ज्ञान होता तो वह स्वयं ही या तो प्रमाणरूप है या अप्रमाणरूप, मगर ज्ञान होता तो स्वयं है पर उसकी प्रमाणता का निर्णय और अप्रमाणता का निर्णय पर से ही होता है । इससे सभी ज्ञानों को स्वयं प्रमाण मानना अथवा पर से ही प्रमाण मानना, ऐसा कोई एकान्त नहीं है । अभ्यास दशा में तो प्रमाण का प्रमाण स्वतः है और अनभ्यास दशा में प्रामाण्य परतः होता है ।

स्वतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य मानने की तर्कणा व समाधान—यहाँ मीमांसक स्वतः प्रमाण और परतः अप्रमाण मानने की बात यों कह रहे हैं कि दोषरहित इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है वह तो प्रमाणभूत है, स्वतः प्रमाण है और दोष वाली इन्द्रिय से जो ज्ञान बनता है वह अप्रमाण है । तो इन्द्रिय में दोष की रचना अलग से होती है और इन्द्रियाँ निर्दोष रहें, यथार्थ रहें, यह मेरा स्वरूप ही हैं । जैसे किसी मनुष्य की आँखें शुरू से अच्छी हैं और पीछे मोतियाबिन्द हो या अंधेरा छाये, कोई दोष आये तो दोष बाद में लगने की चीज है और इन्द्रियाँ स्वयं गुणवान होती हैं, इस आधार पर प्रमाणपने और अप्रमाण की बात कह रहे हैं, मगर उनका आधार सही नहीं है । यदि बहुत से मनुष्य सही आँखें लेकर पैदा होते हैं । तो कोई मनुष्य जन्म से बिगड़ी हुई आँखें

लेकर भी पैदा होता है। इन्द्रियाँ तो रचना हैं, दोष वाली इन्द्रियां बनें यह भी जन्म से हो सकता है, दोषरहित इन्द्रियां बनें यह भी जन्म से हो सकता। तो इन्द्रिय का गुण और इन्द्रिय का दोष—ये दोनों ही परतत्त्व हैं। उसमें यह न समझना कि निर्दोष इन्द्रियाँ बनें, यह तो इन्द्रियों का स्वरूप है और दोष आये तो वह बाहरी उपाधि लगने की बात है। इन्द्रियाँ तो पौद्गलिक रचना है। प्रारम्भ से कैसी ही बन जायें? तो जैसे इन्द्रिय का गुण और दोष का स्वभाव नहीं है। हो जाये जो कुछ सो सही है, ऐसे ही ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता इनमें कोई स्वाभाविक स्वतः हो, सो बात नहीं है। प्रमाणपने और अप्रमाणपने का निर्णय अभ्यास दशा में स्वतः होता है और अनभ्यास दशा में पर से होता।

अभ्यास व अनभ्यास दशा में प्रामाण्य की उत्पत्ति की विधि का भेद—इस सूत्र में पहले प्रमाण के स्वरूप का निर्णय किया। अब यह चर्चा यह चल रही है कि प्रमाण में प्रामाण्य की उत्पत्ति खुदबखुद होती है या किसी अन्य कारण से होती है? इसके बाद फिर यह बताया जायेगा कि प्रमाणपने की प्राप्ति खुदबखुद होती है अथवा अन्य कारण से होती है। तो उत्पत्ति के सम्बंध में मीमांसकों का यह सिद्धान्त है, कि प्रामाण्य की उत्पत्ति तो स्वतः होती है और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है। इस सिद्धान्त वालों का यह आशय है कि सही ज्ञान होना यह तो एक उत्सर्ग है। सो स्वतः होता ही है। किन्तु कोई दोष वगैरा आ जाये तो प्रमाणता आती है। सो अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है। जैसा पदार्थ है वैसा पदार्थ का बोध होना, इसी के मायने तो प्रमाणता है। सो यह प्रमाणता तो जीवों की ईमानदारी की बात है। अब पदार्थ में विपरीतपना करने का कोई कारण हुआ, उससे अप्रामाण्य बना तो यह अप्रामाण्य है, इसका ज्ञान दोष के ज्ञान से बनता है। जैसे किसी ने सफेद शंख को पीला शंख समझ लिया तो वह पीला समझ रहा है और उसमें श्रम भी नहीं कर रहा है, किन्तु जब यह ज्ञान हो जाये कि इसको कामला रोग है। और ये सभी चीजें पीली दिख रही हैं तो दोष का ज्ञान होने से अप्रामाण्य का ज्ञान बन जाता है। इस तरह प्रामाण्य तो स्वतः है और अप्रामाण्य परतः होता है। उक्त बात बिना विचार किए बहुत सही सी जंचती है, लेकिन यह देखना है कि प्रमाण है या अप्रमाण, इसका निर्णय किसको चाहिए? यह निर्णय चाहिए छङ्गस्थ जीवों को और उनका मिथ्या ज्ञान अप्रामाण्यता का प्रायः प्रकृति से चली आ रही है। और विशिष्ट ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो, अन्य गुण हो तो उससे प्रामाण्य का बोध होता है। तो उस निगाह में यह भी तो कहा जा सकता है कि अप्रामाण्य की उत्पत्ति तो प्रकृत्या हो रही जीवों के और प्रामाण्य की उत्पत्ति जब गुण हो, कोई विशिष्टता हो तब होता है। तो यों अप्रामाण्य तो उत्सर्ग बन गया याने स्वतः हो जाये, ऐसा बन गया। और प्रामाण्य अप्रामाण्य बन गया। तब न प्रामाण्य के लिए कहो कि न स्वतः है, न परतः, न अप्रमाण्य के लिए कहो। बात यह है कि प्रामाण्य अभ्यास दशा में तो स्वतः है और अनभ्यास दशा में परतः है। जिस चीज को हम रोज़-रोज़ देखते हैं तो जब-जब देखते हैं तब-तब वह प्रमाण रहता है। इसमें कुछ दिमाग नहीं लगाना पड़ता। तो यहाँ प्रामाण्य स्वतः हो गया। कोई अनजान जगह में जहाँ और दूर से कोई चीज दिखे अथवा कोई चिह्न नजर आये तो वहाँ कुछ दिमाग लगाया जाता कि बात ऐसी है या नहीं? किसी को प्यास लगी। चला जा रहा है रास्ते में। खूब खोज रहा कि कहाँ पानी मिले। जल चाहिए। कहीं मेंढकों की आवाज सुनने में आयी, उससे कुछ ख्याल किया कि यहाँ पानी होना चाहिए। कुछ और

पास गया तो फूटे घड़े मिले, उससे और निर्णय किया कि पानी होना चाहिए। तो कुछ और पास गया, कुछ सफेदी नजर आयी, तब अनुमान बनता है कि होना चाहिए पानी और जाकर फिर समझ लिया। तो अनभ्यास की स्थिति में ज्ञान की प्रमाणता परतः होती है।

दोष गुण का भेद डालकर प्रामाण्य व अप्रामाण्य में स्वतः परतः का भेद डालने की असम्भवता—यहाँ मीमांसक सिद्धान्तानुयायी यह बतलाते हैं कि ज्ञान के कारणभूत जो गुण होते हैं वे कोई अलग चीज नहीं हैं, किन्तु दोष का अभाव हो, वही गुण कहलाता है। जैसे किसी की आँखें निर्दोष हैं तो कोई खास बात नहीं है। आँख का स्वरूप ही ऐसा है, पर वहाँ धुंधली कामला फुली हो जाये तो वह अलगसी चीज है और वह दोष कहलाती है। तो गुण कोई अलग चीज नहीं, किन्तु दोष का जो अभाव है सो गुण है। और इस तरह गुण से होता है प्रामाण्य और गुण कोई स्वतंत्र स्वरूप नहीं है। तो यों प्रामाण्य स्वतः हो गया और दोष, आँख की फुली आदिक ये अलग से कोई चीज बनती हैं और उनके कारण ज्ञान में अप्रमाणता आती है। तो यों अप्रामाण्य परतः हो गया, ऐसा कहना उनका युक्ति यों के नहीं है कि जो इन्द्रिय हेतु है यह खुद उत्पन्न होता है। सो उत्पन्न होते हुए में पुद्गल पिण्ड है, कैसा ही बन गया। सही बन गया कुछ और बिगाढ़ बन गया। सही बने तो परचीज है बिगाढ़ बने तो परचीज है। तो इन्द्रिय आदिक तो पर हैं ही। उनमें गुणों को स्वाभाविक क्यों कहा जा रहा? और किसी-किसी जन्मान्ध पुरुष के जो पैदा होते ही अन्धा है लो उसके प्रकृति से ही यह दोष पाया गया। तो गुण भी पुद्गलपिण्ड है, दोष भी पुद्गलपिण्ड है, याने इन्द्रिय में जो निर्दोष रचना है वह भी पौद्गलिक है और जो दोष रचना है वह भी पौद्गलिक है। वहाँ यह छांट नहीं की जा सकती कि गुण तो प्रकृत्या हैं और दोष औपाधिक हैं, सभी औपाधिक हैं, इन्द्रिय मात्र ही औपाधिक हैं। प्रामाण्य स्वतः होता है। इसके समर्थन में मीमांसक सिद्धान्त के अनुयायी एक यह युक्ति रखते हैं कि जैसे धूम देखकर अग्नि का ज्ञान हुआ तो चूंकि अग्नि से धूम का अविनाभाव है तो अग्नि के अविनाभाव सहितपना धूम का होना, यह यह तो धूम का स्वरूप है। कोई धूम साधन अलग से, गुण नहीं, किन्तु वह तो हेतु का अन्धय ही है। और कोई भाप में धुंवें का ज्ञान किया तो वह भाप जिसको धूम की तरह आभास किया गया उसमें अविनाभाव नहीं है, तो अग्नि में अविनाभाव नहीं है, यह औपाधिक दोष हो गया। इस तरह की दलील देकर यहाँ यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ऐसा ही इन्द्रिय में दोष आना तो औपाधिक है और दोष का अभाव रहना, गुण का होना, यह कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं किन्तु स्वाभाविक ही है। यह दलील यों सिद्ध नहीं होती कि जैसे धूम देखा और धूमाभास देखा तो धूम भी किसी उपाधि से हुआ और धूमाभास भी उपाधि से हुआ तो धूम की तरह जो इसका धूमाभास देखा जाये कि हेत्वाभास है, तो वह भी तो अग्न्याभास के बिना नहीं होता, इसलिए जो बात धूमहेतु की कहते हो वही बात धूमाभास, हेत्वाभास में भी घटित होती है। इससे सीधा मानना चाहिए कि इन्द्रियाँ सब औपाधिक हैं, गुण भी औपाधिक है। किसी चीज में जो ज्ञान बना तो ज्ञान की उत्पत्ति तो परतः ही हुई छद्मस्थ जीवों के। यह एक निश्चयनय की बात है कि ज्ञान तो अपने ही ज्ञानस्वभाव का उपादान कारण होता है, ठीक है यह बात, किन्तु सदा क्यों नहीं ज्ञान होता रहता है। छद्मस्थ जीवों के? उसका उत्तर क्या होगा? उसका उत्तर यह ही है कि यह ज्ञान इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर होता है। तो इन्द्रिय और मन ही उपाधि हैं। और

उसमें गुण हुए तो उपाधि, दोष हुए तो उपाधि । गुण और दोष की ओर से स्वतः और परतः प्रमाणता की उत्पत्ति न कहो, किन्तु दूसरी जानकारी है, अभ्यास की स्थिति है, वहाँ तो ज्ञान में प्रमाणता स्वतः आती है और जहाँ अनभ्यास की स्थिति है, वहाँ प्रमाणता परतः आती है ।

शब्द व शब्दाभास के भेद का उदाहरण देकर प्रमाण व अप्रमाण्य का विश्लेषण करने की असंगतता—अब इस प्रसंग में मीमांसक सिद्धान्त के अनुयायी एक नवीन बात और रखते हैं कि जैसे शब्द और शब्दाभास, शब्द तो अपने आप ही अपना अर्थ बता देता है किन्तु जहाँ झूठे टेढ़े शब्द आयें उनका अर्थ लगाने में दोनों को लगाया जाता है और वे मिथ्या अर्थ के प्रतिपादन करने वाले होते हैं । तो जैसे शब्द स्वयं ही अपने वाच्य अर्थ को समझने में तत्पर है और शब्दाभास मिथ्या अर्थ के प्रतिपादक होते हैं तो शब्दाभास से तो अप्रमाणता होती है और शब्द से प्रमाणता होती है । यह कहना भी उनका युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द से जो वाच्यार्थ जाना जाता वह भी गुण युक्ति अनुभव के बिना जाना जाता । और शब्दाभास से मिथ्या अर्थ जाना जाता, वह भी परतः जाना जाता । कोई अन्तर नहीं है । और इस तरह जैसे आगम स्वतः प्रमाण माना जाता मीमांसक सिद्धान्त में ऐसे ही उनकी दृष्टि से जो कुशाख हैं वे भी अप्रमाण स्वतः ही बन जाते । जैसे निर्दोष वक्ता के होने पर प्रमाणता भली प्रकार प्रतीत होती है ऐसे ही दोषयुक्त वक्ता के होने पर शब्द के दोष भी भली भाँति जाने जाते हैं । तो गुण और दोष दोनों ही वक्ता के अधीन हैं । जब तर्क किया जाये, विचार चले तो गुण और दोष दोनों की परीक्षा भिन्न-भिन्न कारणों द्वारा प्रतीत हो जाता है । इससे वक्ता में गुण हैं तो उसके वचन प्रमाण हैं । वक्ता में दोष हैं तो उसके वचन अप्रमाण हैं । प्रमाण का कारण जैसे गुण है, अप्रमाण का कारण वैसे ही दोष है । अथवा जैसे शङ्काकार यह कहता है कि जहाँ कोई वक्ता ही नहीं है वहाँ वक्ता के आश्रय से दोष नहीं होते, यान आगम को प्रमाण मानने में मीमांसकों का यह हेतु है कि आगम अपौरुषेय है, किसी, ने बनाया नहीं है, इसलिए प्रमाण है । अगर कोई बनाये वक्ता उन शब्दों की रचना करके लिखे तो उसमें दोष आयेंगे । तो आगम का कोई रचयिता नहीं, वक्ता नहीं, इसलिए आगम निर्दोष है । तो वक्ता का अभाव होने से अगर निर्दोषता मानी जाती है तो देखो जब मेघ गरजते हैं तो वहाँ कोई वक्ता तो नहीं है और शब्द तो उत्पन्न हो ही रहे हैं तो वे गुण क्यों नहीं कहलाने लगते? आगम की तरह वे भी प्रमाण क्यों नहीं माने जाते? इससे अन्य-अन्य बातें सोचना बेकार है । सीधा ही मानना चाहिए कि वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी प्रमाण है और सराग छद्मस्थ वाणी अप्रमाण है । यदि सराग छद्मस्थ योगी की वाणी प्रमाण है तो उसमें कारण वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी की परम्परा है । यों वेद वाक्यों को किसी ने नहीं बनाया इस कारण प्रमाण है यह हेतु युक्त नहीं है, किन्तु वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित हो तो प्रमाण है और सदोष वता के द्वारा प्रतिपादित हो तो वह अप्रमाण कहलाता है ।

इस तरह प्रमाण में प्रमाणता का आना गुण के आश्रय से है, और अप्रमाणता का आना दोष के आश्रय से है, पर हम आप जीवों को जो प्रमाणता का बोध होता है तो अभ्यास के प्रसंग में खुद होता है, और अनभ्यास के प्रसंग में पर-कारणों से होता है । कोई ऐसा कहे कि भाई जैसे प्रमाणता खुद होती है यों अप्रमाणता भी खुद होती है । दोनों ही मान लो । क्या आपत्ति आती है, क्योंकि जब ज्ञान बन गया तो अपनी रचना में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं की जाती । ऐसा एकान्ततः कहने वाले अनुभव से विचार करें कि खुद को भी कभी

प्रमाणता स्वतः होती है तो कभी परतः भी होती है, ऐसे ही अप्रमाणता भी कभी स्वतः होती है तो कभी परतः भी होती हैं। अतः एकान्त नहीं है। प्रमाणता की उत्पत्ति अभ्यास दशा में स्वतः है, अनभ्यास दशा में परतः होती है। हाँ, अप्रमाणता की उत्पत्ति परतः होती है। इस प्रकार प्रमाण की उत्पत्ति के विषय में कुछ वर्णन करके अब प्रामाण्य की ज्ञाति के सम्बंध में वर्णन करेंगे।

प्रामाण्य की व अप्रामाण्य की ज्ञाति के विषय में स्वतः व परतः होने की मीमांसा—प्रमाण में प्रामाण्य की उत्पत्ति और प्रामाण्य की ज्ञाति—ये दो विषय अलग-अलग हैं। इनका अर्थ है कि प्रमाण में प्रमाणता आना सो तो है प्रामाण्य की उत्पत्ति और उस प्रामाण्य का पता लगाना, जानकारी करना इसका नाम है ज्ञाति। तो अभी प्रामाण्य की उत्पत्ति के सम्बंध में वर्णन चला था और उस सम्बंध में यह निर्णय हुआ था कि किसी प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः होती है और किसी अवसर पर परतः होती है। अब ज्ञाति के सम्बंध में कुछ दार्शनिकों की धारणा है कि अप्रामाण्य की ज्ञाति भी स्वतः होती है और जैसे प्रामाण्य की ज्ञाति स्वतः होती है उसी प्रकार अप्रामाण्य की ज्ञाति भी स्वतः हो जाये, उसमें हम कोई विवाद नहीं करते। इस प्रकार कुछ दार्शनिकों का सिद्धान्त है। जैसे कि नैयायिक जन तो प्रामाण्य की ज्ञाति परतः ही मानते हैं, किन्तु मीमांसक लोग सभी ज्ञानों में प्रामाण्य की ज्ञाति स्वतः मानते हैं अर्थात् यह ज्ञान समीचीन है प्रमाण है, इस प्रकार की जानकारी स्वयमेव हुआ करती है। उनके प्रति यहाँ आचार्य महाराज इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि ज्ञाति अभ्यास दशा में तो स्वतः होती है अर्थात् जिस विषय जानकारी का हमें अभ्यास चल रहा है और यथावसर उस चीज का कभी ज्ञान होता है, तो उसमें प्रामाण्य की ज्ञाति स्वतः हो जाती है। जैसे जिस कुवें से रोज पानी भरते हैं जिस तालाब में रोज लोग नहाया करते हैं, जिस किसी भी कार्य को किया करते हैं, रोज जानकारी रहा करती है। उसकी जब-जब भी जानकारी बनती है तो वह सत्य है, प्रमाण है, ऐसी जानकारी करने के लिए नया ज्ञान करने की आवश्यकता नहीं होती कि मेरा ज्ञान सही है अथवा नहीं, लेकिन अनभ्यास दशा में प्रामाण्य की ज्ञाति परतः होती है। अनजान जगह में जा रहे हैं, प्यास लगी है पानी की तलाश है, कुछ तालाब के चिह्न दिखे—जैसे मेंढक की आवाज आयी, थोड़ा और गए उस दिशा में तो कलश फूटे मिले, उसे ज्ञान होता जा रहा है कि यहाँ पानी होना चाहिए। तो वहाँ जो सरोवर का ज्ञान किया जा रहा है वह ज्ञान सही है या नहीं, इसकी पहिचान अन्य ज्ञानों से बन रही है। तो अनभ्यास दशा में ज्ञान की समीचीनता परतः होती है। यदि सर्वथा एकान्त कर लिया जाये कि ज्ञान में प्रामाण्यपने की ज्ञाति स्वतः होती है तो अनभ्यास दशा में भी प्रामाण्य की ज्ञाति स्वतः हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा किसी का अनुभव नहीं बता रहा। अनभ्यास दशा में तो पर से ही तत्त्वनिर्णय बन पाता है। तो न परतः ज्ञाति होती है, यह एकान्त करना चाहिए और न स्वयं ज्ञाति होती है, यह एकान्त करना चाहिए।

अभ्यासदशा में परतः ज्ञाति मानने की प्रतीतिविरुद्धता—जो लोग अभ्यासदशा में भी पर से ज्ञाति मानते हैं प्रामाण्य, उनके यहाँ यह दोष है कि फिर तो जिस ज्ञान से प्रमाणपने का निर्णय किया उस ज्ञान के प्रमाणपने का निर्णय अन्य ज्ञान से होगा, फिर उसके भी प्रमाणपने का निर्णय अन्य ज्ञान से होगा। इस तरह ज्ञायक प्रमाण की अनवस्था बन जायेगी। फिर निर्णय ही कुछ न हो सकेगा। यदि बहुत दूर चलकर यह कहा जाये

कि किसी बात को समझने के लिए ज्ञान बना और उस ज्ञान की सत्यता समझने के लिए दूसरा ज्ञान बना, दो-तीन ज्ञान बनने के बाद कोई ज्ञान ऐसा होता है कि जिसको ज्ञप्ति स्वतः होती है। तो जैसे कुछ ज्ञान की परम्परा चलाकर स्वतः ज्ञप्ति मानी, ऐसे ही किसी ज्ञान में पहले-पहले ही क्यों न स्वतः ज्ञप्ति हो जायेगी? तो प्रमाण में प्रामाण्य की ज्ञप्ति परतः होती है, यह भी एकान्त नहीं, अथवा स्वतः होती है, यह भी एकान्त नहीं। प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति के लिए यह ही तो निर्णय बनाते हैं लोग कि इन्द्रिय में ज्ञान के कारणों में कोई दोष नहीं, है, इसलिए प्रामाण्य है और दोष है तो अप्रामाण्य है। तो जहाँ कहीं अनभ्यास की स्थिति है, अनजान क्षेत्र की घटना है वहाँ ज्ञान होते समय इसका कुछ विचार नहीं चलता कि मेरे ज्ञान के कारण उस दोष का अभाव है या गुण का अभाव है, क्योंकि यह विचार स्वतः नहीं किया जा सकता। तब यह मानना चाहिए कि अनभ्यास दशा में प्रामाण्य की ज्ञप्ति भी परतः होती है, इसी तरह अनभ्यास दशा में वक्ता के दोष गुण का निर्णय भी नहीं बनता। और जब निर्णय नहीं बनता तो एक बात तुरन्त कैसे घट जायेगी अनभ्यास दशा में कि वक्ता के गुण होना और दोष होना यह वक्ता के अधीन है। इसमें जो बात जनसाधारण के अनुभव में आती है, वह अनुभव यथार्थ है कि जहाँ कहीं परिचित बात का निर्णय है वहाँ प्रामाण्य स्वतः हो जाता है। और स्वतः जान भी लिया जाता है और जहाँ अनजान क्षेत्र की घटना है वहाँ का ज्ञान परतः समझा जाता है कि यह ज्ञान सही है।

अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि प्रामाण्य की ज्ञप्ति और अप्रामाण्य की ज्ञप्ति चाहे अभ्यास दशा हो, चाहे अनभ्यास दशा हो, दूसरे कारणों से होती है, लेकिन यह बात उनके यों घटित नहीं होती कि जिस ज्ञान के द्वारा प्रमाण का सच्चापन जाना गया उस ज्ञान का भी तो पहले सच्चापन समझ में आना चाहिए। जब नये-नये ज्ञान बनेंगे तो यह अनवस्था दोष होगा। मानना पड़ेगा हर एक को कि कोई ज्ञान ऐसा होता है कि जिसकी सच्चाई का ज्ञान उसी ज्ञान से हो जाता है, उसके लिए नया ज्ञान उत्पन्न नहीं करना पड़ता। यदि यह शंकाकार कहे कि यह ज्ञान प्रमाण है, इसका निर्णय तो प्रवृत्ति से बनता है। जैसे प्यासे पुरुष ने सरोवर में जल का ज्ञान किया, तो उसका ज्ञान सही है यह बात पीने से या नहाने से समझी जायेगी तो ज्ञान परतः ही तो हुआ। इस विषय में अधिक विवाद न कर अपने आपके अनुभव से समाधान लें तो यहीं निर्णय पावेंगे कि अभ्यासदशा में प्रमाण के प्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः होती है और अनभ्यासदशा में प्रमाण के प्रामाण्य की ज्ञप्ति परतः होती है।

सिर्फ प्रत्यक्षप्रमाण को मानकर अन्य प्रमाणों के निराकरण करने के विकल्प की असंगतता—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान, ये ५ ज्ञान हैं और ये दो प्रमाणरूप हैं, ऐसा असल में जो ‘प्रमाणे’ शब्द कहकर द्विवचन का रूप दिया है उस सम्बन्ध में चार्वाक शंका करते हैं कि प्रमाण दो हो नहीं सकते। प्रमाण केवल एक होता है—प्रत्यक्ष याने प्रत्यक्ष से जो जाना, समझा, प्रमाण वह ही है, बाकी ज्ञान तो गौण हैं और वे प्रत्यक्ष की ही सेवा करते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष ही मुख्य है। अन्य ज्ञानों से पदार्थ का निर्णय नहीं होता। प्रत्यक्ष की प्रमाणता में यह युक्ति है कि प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है, क्योंकि वह अपने और पदार्थ के निर्णय करने में अन्य की अपेक्षा नहीं करता। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष ही तो अन्य ज्ञान के जन्म का निमित्त है

। तो मुख्य तो प्रत्यक्ष ही है । भले ही अन्य ज्ञान को गौण रूप से मान लिया जाये, पर गौण तो गौण हो कहलाता है । मुख्य प्रमाण को ही वास्तविक माना जायेगा । गौण पदार्थ प्रमाणभूत नहीं माना जाता, क्योंकि यदि गौण बात को प्रमाण मान लिया जाये तो नेत्र, चश्मा, कलम आदिक जड़ पदार्थ भी प्रमाण बन बैठेंगे, क्योंकि गौण रूप से उन साधनों की भी आवश्यकता होती है । इस कारण से एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि यही प्रत्यक्ष प्रमाण समस्त विषयों की व्यवस्था करने के कारण प्रमाणभूत है । ऐसा चार्वाक जन अपना विचार रखते हैं । अब उनके समाधान की बात सुनो—जो चार्वाकों का यह कहना है कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है तो प्रत्यक्ष तो कोई वर्तमान ही तो नहीं है । भूत प्रत्यक्ष भी होता भावी प्रत्यक्ष भी होता और अनेक प्राणियों के प्रत्यक्ष ज्ञान चलता तो ये सारे प्रत्यक्ष एक स्वतः ही हो रहे हैं या अत्यय प्रत्यक्ष से वे सिद्ध होते हैं? उन प्रत्यक्षों में प्रमाणता क्या स्वतः बनती या अन्य प्रत्यक्षों से उन प्रत्यक्षों में प्रमाणता बनती है? यदि कहो कि सभी प्रत्यक्षों की अपने आप से ही सिद्धि हो जाती है तो फिर दूसरे के प्रत्यक्षों की सिद्धि हमें तो नहीं हुई । जब हम गुरु परोपकारी पुरुषों के किसी भी ज्ञान का हमें प्रत्यक्ष नहीं बनता तो हम उनका गुणगान करने के अधिकारी नहीं हो सकते, क्योंकि गुरु जनों के जो ज्ञान होता है उसके प्रत्यक्ष से प्रमाणपने की सिद्धि हमें कैसे हो सकती है? बहुत पहले गुरुवों को प्रत्यक्ष हुआ था, उसको हम समझे नहीं तो फिर गुणगान भी नहीं कर सकते । जैसे पूर्व में जो आचार्य हुए उनको प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ था, यह हम कैसे समझ सकते हैं? और जब हम अपने प्रत्यक्ष से उसे न जान सके तो उनका गुणगान करना भी व्यर्थ ही है ।

यदि कहो कि अन्य प्रत्यक्ष से होगा तो उसकी प्रत्यक्षता अन्य से होगी, यों अनवस्था दोष आयेगा । यदि कहो कि किसी-किसी प्रत्यक्ष में प्रामाण्य स्वतःसिद्ध हो जाता है तब इसमें एक स्याद्वाद सिद्धान्त ही तो आया और फिर इसमें भी एक प्रश्न उठता है कि सम्पूर्ण जीवों के सभी प्रत्यक्षों का स्वयं अपने आप ही प्रमाणपना सिद्ध हो रहा तो यह कैसे जाना कि मन को अपने ही ज्ञान से प्रत्यक्ष प्रमाणपना सिद्ध कैसे हुआ? क्योंकि चार्वाक जन किसी सर्वज्ञ को नहीं मानते, किसी विशेष पारमार्थिक प्रत्यक्ष वाले को नहीं मानते, क्योंकि इन्द्रिय से ही जो कुछ प्रत्यक्ष होता है उस ज्ञान तक को ही ये समझ पाते हैं । तो जब हम दूसरे के प्रत्यक्ष को नहीं समझ सकते तो हम उनका गुणगान भी कैसे कर सकते? गुण ही नहीं ज्ञात हैं तो उनकी स्तुति कैसे की जा सकती? यदि कहो कि अन्य प्रमाणों से सभी प्रमाणों के प्रत्यक्ष का ज्ञान होता तब फिर किसी की व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है । इससे एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है अन्य कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा कहना एक प्रलाप मात्र है । और फिर प्रत्यक्ष में प्रमाणता है—इसकी सिद्धि युक्ति से कर रहे हो तो अनुमान तो प्रमाण ने ही किया । प्रत्यक्ष में प्रमाणता अनुमान में सिद्ध करते हुए हेतु देकर और फिर कहते जाते कि प्रत्यक्ष में ही प्रमाण है तो कैसी स्वबचन विरुद्ध बात कह रहे हैं? जैसे कि पहले बताया चार्वाकों ने कि प्रत्यक्ष ही नया प्रमाण है, क्योंकि अपने और पदार्थ के निर्णय करने में प्रत्यक्ष से अन्य की अपेक्षा नहीं होती, फिर प्रतिज्ञा और हेतु कहकर पूरा अनुमान बनाया और उससे प्रमाणता प्रसिद्ध की और फिर अनुमान का व अन्य प्रमाण का खण्डन किया जा रहा है । कैसे एक मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण की मुख्यता चार्वाक के सिद्ध हो सकती है?

एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, ऐसा चार्वाक का कथन तो यों भी युक्त नहीं है कि प्रत्यक्ष की प्रमाणता को सिद्ध करने के लिये कम से कम अनुमान तो मानना ही पड़ेगा, इस विषय में चार्वाक ने जो यह कहा था कि प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है, क्योंकि वह स्व और पदार्थ के निर्णय करने में अन्य की अपेक्षा नहीं रखता । सो ऐसा चार्वाक का कहना तो अनुमान में भी घटित हो जाता है । अनुमान भी मुख्य प्रमाण है, क्योंकि अपने और पदार्थ के निर्णय में अनुमान भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखता । यदि चार्वाक कहें कि अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में तो अन्य की अपेक्षा रहती, है, जैसे साधन से साध्य का ज्ञान किया तो उत्तर उसका यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण भी तो अपनी उत्पत्ति में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखता है । यदि चार्वाक यह कहें कि हमारा प्रयोजन है कि प्रत्यक्ष प्रमाण किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता तो उसका उत्तर भी यही है कि अनुमान प्रमाण भी अपनी उत्पत्ति में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखता, और जो कुछ यह दिख रहा है कि पक्षवृत्ति होना, सपक्ष में रहना, विपक्ष से हटना आदिक से अनुमान की उत्पत्ति होती है, सो वे सब हेतु के विशेषण हैं और हेतु से अनुमान की उत्पत्ति होती है । तो यों प्रत्यक्ष प्रमाण की भाँति अनुमान प्रमाण भी है । इस तरह दो प्रमाण मानने चाहिए । चार्वाक का यह कहना था कि प्रत्यक्ष मुख्य प्रमाण है, क्योंकि यह ही अन्य प्रमाण के जन्म का निमित्त कारण है, सो उनका यह कहना व्यभिचार दोष से युक्त है, क्योंकि हेतु सावृश्य ज्ञान, संकेतज्ञान, व्याप्तिज्ञान आदि प्रमाणों का तो प्रत्यक्ष निमित्त नहीं बन रहा । यहाँ तो यह साधन आदिक ही अनुमान आदिक प्रमाणों की उत्पत्ति का कारण है, लेकिन प्रमाणान्तर की उत्पत्ति के कारण होने से प्रत्यक्ष बन जाये, यह बात यहाँ तो न घटी । ये सब हेतु वगैरा अनुमान प्रमाण के जनक बन गए । तो प्रत्यक्ष मुख्य है, प्रमाणान्तर की उत्पत्ति का कारण होने से यह बात भी गलत हो जाती है ।

यदि चार्वाक यह कहें कि पदार्थ के न होने पर प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए मुख्य प्रमाण है तो यही बात तो अनुमान में भी है । यदि पदार्थ का सद्भाव नहीं है, जिसको कि सिद्ध किया जाता है तो उनका अनुमान भी प्रमाण नहीं बनता । इस कारण चार्वाक का यह कहना कि एक सामने जो दिखता है? ऐसे ही एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य कोई प्रमाण नहीं है, यह बात संगत नहीं है । यदि चार्वाक यह कहें कि प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बादी है अर्थात् उस प्रमाण को जानकर पदार्थ की उत्पत्ति हो जाती है, इस कारण प्रत्यक्ष मुख्य प्रमाण है, तो यह कहना उनका ठीक तो है, परन्तु सम्बादकपना तो अनुमान में भी बनता । अनुमान से भी जानकर पदार्थ की प्राप्ति कर ली जाती है, तो अनुमान क्यों नहीं प्रमाण माना जा रहा? यदि चार्वाक यह कहें कि प्रत्यक्ष जो है वह वस्तु को विषय करता है इस कारण मुख्य प्रमाण है तो भाई अनुमान भी तो वस्तु को ही विषय करता है । वस्तुतः उत्तर किसको पाना है? ज्ञान से जानकर जिसका कोई लाभ उठाना है वही ज्ञान में आये, यही तो वस्तुविषयक ज्ञान कहलाता, सो यह तो अनुमान में भी है, इस कारण अनुमान भी है ।

प्रत्यक्ष व अनुमान दो ही प्रमाण हैं ऐसे विकल्प की असंगतता—क्षणिकवादी कह रहे हैं कि उक्त प्रकार से मुख्य प्रमाण दो मान लेने चाहिएँ । प्रत्यक्ष और अनुमान । ‘तत्प्रमाणे’ सूत्र में भी द्विवचन का रूप है प्रमाणे । सो भी सही हो जायेगा कि प्रमाण दो प्रकार का होता है । सो प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रकार मानने वाले भी यथार्थवादी नहीं हैं, क्योंकि अनुमान प्रमाण माने तो यह तो निर्णय करना ही पड़ता है तब अनुमान बनता है

कि जितना कोई धूम है वह अब अग्नि से उत्पन्न हुआ या अग्नि से उत्पन्न नहीं होता, ऐसा तो समझना ही पड़ेगा । बस इसी का ही नाम व्याप्ति है, तो व्याप्ति का ज्ञान किए बिना अनुमान प्रमाण तो नहीं बन सकता । तो जो अनुमान प्रमाण मानते हैं इनको तर्क नाम का प्रमाण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि तर्क ज्ञान बिना साध्य साधन की व्याप्ति नहीं समझी जा सकती । और साध्य-साधन की व्याप्ति जाने बिना अनुमान प्रमाण बन नहीं सकता । यदि क्षणिकवादी यह कहे कि सबको जानने वाले जो योगीश्वर हैं उनकी प्रत्यक्ष से व्याप्ति सिद्ध हो जायेगी । तो इसके समाधान में सोचिये कि कितनी असंगत बात कही जा रही है कि योगियों को तो समस्त भूत भविष्य वर्तमान त्रिलोकवर्ती पदार्थ का ज्ञान चल रहा तो उनको सभी विषयों में प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है । उनको अनुमान ज्ञान नहीं हुआ करता । व्याप्ति का ज्ञान तो खुद को करना है जिसको कि अनुमान बनाना है । तो खुद को तो व्याप्ति का ज्ञान है नहीं । भले ही सर्वज्ञ को ज्ञान होता रहे, उससे इसको क्या लाभ हुआ? जब ये अल्पज्ञानी जीव जो कि अनुमान करना चाह रहे हैं वे व्याप्ति को जान नहीं रहे हैं तो न उनको स्वार्थानुमान हो सकता और न परार्थानुमान हो सकता । भगवान योगीश्वर सर्वज्ञ समग्र वस्तु को जानते हैं, पर उनका ज्ञान-व्यापार ऐसे तर्कणा, विचार विकल्प रूप में नहीं हुआ करता, इस कारण व्याप्ति का ज्ञान जब न हुआ इस अनुमान करने वाले को तो अनुमान प्रमाण कैसे बन सकता है? और जैसे सर्वज्ञ ज्ञान से व्याप्ति मानकर अनुमान नहीं बनता ऐसे ही एक देश प्रत्यक्ष ज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी इनके प्रत्यक्ष से भी व्याप्ति बनकर अनुमान नहीं बन सकता । जिसको अनुमान बनाना है, उसको ही व्याप्ति का ज्ञान चाहिए । तो तर्क प्रमाण मानना पड़ा ना? यदि तर्क प्रमाण न हो तो व्याप्ति का निश्चय हो नहीं सकता इसलिए अनुमान प्रमाण है । प्रत्यक्ष अनुमान ऐसा दो ही कहने वाले को तर्क प्रमाण मानना प्रथम ही आवश्यक हो गया ।

इस प्रकार जब तर्क प्रमाण की सिद्धि हो गई तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञान भी सिद्ध हो जाता है । कम से कम और नहीं तो साध्य-साधन की व्याप्ति बनाते समय बहुतसी जगह का साध्य-साधन तो स्मरण में आना ही पड़ता है और फिर उससे प्रत्यभिज्ञान भी बनता, सदृश का ज्ञान भी होता । तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञान भी उनको प्रमाण मानते ही होंगे । इस तरह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष स्मृतिज्ञान प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये प्रमाण जो मतिज्ञान के अनर्थान्तर हैं ये मानने आवश्यक हो गए और ये सभी के सभी मतिज्ञान के ही पर्यायवाची हैं । अनुमान प्रमाण में जो दो भेद कहे गए हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, उसमें से परार्थानुमान तो श्रुतज्ञान से सम्बन्ध रखता, पर स्वार्थानुमान तो मतिज्ञान का ही अनर्थान्तर है । फिर इसके और प्रभेद करेंगे तो जो-जो कुछ इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर ज्ञान हुआ करता है वे सब प्रकार उस ही में शामिल हो जायेंगे । जैसे उपमान यह एक सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का रूप है अथवा अभाव, यह पदार्थों के ज्ञान का सद्भावरूप है । किसी का अभाव किसी दूसरे पदार्थ के सद्भाव के ज्ञानरूप हुआ करता है तो इस प्रकार तत्प्रमाणे इस सूत्र से दो प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष मानना चाहिए ।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की अप्रत्यक्षरूपता—अभी तक जिस प्रत्यक्ष की चर्चा चल रही है वह तो परोक्षज्ञान का ही भेद है । जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है वह वास्तव में तो मतिज्ञान ही है, परोक्षज्ञान ही हैं, किन्तु अन्य ज्ञानों की अपेक्षा इस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में एक देश विशद स्पष्ट ज्ञान लगता है, इस कारण इसे व्यवहार से प्रत्यक्ष

माना है। वस्तुतः तो ये सभी परोक्ष ज्ञान के ही भेद है। वास्तविक प्रत्यक्षज्ञान, इनसे अलग है। वास्तव में उसका वर्णन आगे के सूत्रों में आयेगा। उसका चिह्न यह है कि जो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा किए बिना केवल आत्मा से ही प्रकट होता है उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते है। इस प्रत्यक्षज्ञान में पदार्थज्ञान की बड़ी स्पष्टता होती है और वहां किसी प्रकार संदेह आदिक नहीं हुआ करते। तो आत्मा से ही उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है और वह प्रत्यक्षज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानरूप है। यह तो जो प्रत्यक्ष चार्वाक द्वारा माना गया है अथवा मति शब्द कहकर या सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर जिसका संकेत किया जाता है वह वास्तव में परोक्षज्ञान है। इस तरह 'तत्प्रमाणे' इस सूत्र का अर्थ होता है। तत् मायने ज्ञान। प्रमाण दो प्रमाणरूप है। तत् मायने वह। यह शब्द पूर्व सूत्र का स्मरण कराता है याने जिस ज्ञान को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानरूप में बताया गया है, वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। तो जब ज्ञान हो वह दो प्रमाणरूप है तो उस ही ज्ञान में से तो छठनी करनी है कि इन ५ ज्ञानों में से कुछ ज्ञान प्रत्यक्ष हैं और कुछ ज्ञान परोक्ष हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान—ये दो ज्ञान तो परोक्षज्ञान हैं, क्योंकि इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर उत्पन्न होते हैं, और ये पूर्ण स्पष्ट ज्ञान नहीं हैं, और कुछ तो स्पष्ट ज्ञान है ही नहीं। और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं। इनमें अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तो एकदेश प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि इनका विषय समग्र सत् नहीं है, और केवलज्ञान सर्वदेश प्रत्यक्ष है, क्योंकि केवलज्ञान का विषय समग्र सत् है। इस तरह 'तत्प्रमाणे सूत्र में प्रमाणे शब्द से परोक्ष और प्रत्यक्ष का ग्रहण किया है और परोक्ष में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कहा गया है। तो अब तक जितना इस प्रसंग में सम्बाद चला वह सब मतिज्ञान के बारे में ही सम्बाद था। तो मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान—ये सब मतिज्ञान के ही अनर्थान्तर हैं।

श्रुतज्ञान की प्रमाणरूपता—ज्ञान दो प्रमाणरूप है, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष। परोक्षज्ञान के मति, स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान ये प्रकार हैं। यद्यपि अनुमान में स्वार्थानुमान तो मतिज्ञान में ही अन्तर्भूत होता है, पर वचनात्मक परार्थानुमान मतिज्ञान से भिन्न है तथा आस पुरुषों के द्वारा कहे हुए वचनों में जो प्रमाणता होती है वह श्रुतज्ञान मतिज्ञान से जुदा है और प्रमाणभूत है। इस प्रसंग पर क्षणिकवादी कह रहे हैं कि ज्ञान तो दो ही होते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। जो कभी भी उपदेश देता है या तो प्रत्यक्ष से जानकर देता है या अनुमान से जानकर देता है। प्रत्यक्ष में चार प्रकार के प्रत्यक्ष होते हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानरप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसम्बेदनप्रत्यक्ष। किसी भी प्रत्यक्षता से जानकर ही तो कोई उपदेश न देगा या अनुमान से जानकर उपदेश देगा। तो जिस ज्ञान से जानकर उपदेश दिया तो वह उपदेश उस ही ज्ञान में शामिल होता है, तो प्रत्यक्ष और अनुमान से जुदा कोई श्रुतज्ञान न मानना चाहिए। यह आशङ्का युक्त नहीं है, कारण कि सामग्री का जब भेद है तो ज्ञान का भी भेद बन जाता है। प्रत्यक्ष सामग्री जुदा और अनुमान की सामग्री जुदा। प्रत्यक्ष की सामग्री है इन्द्रिय, अनुमान की सामग्री है अविनाभाव हेतु, इन दोनों सामग्रियों से भिन्न सामग्री है वचन। तो वचनस्वरूप सामग्री से जो उत्पन्न हुआ, ऐसा श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न ही होगा। प्रत्यक्षज्ञान यहाँ इन्द्रियज और मानसिक ज्ञान ही को कहा जा रहा है। यदि योगि प्रत्यक्ष भी माने तो योगिप्रत्यक्ष

ज्ञान का विषय, पद्धति जुदी है और वचनों में प्रमाणता आती है तो जो पुरुष उन वचनों को जानकर उसमें उन वचनों के कारण प्रमाणता अंगीकार करते हैं तो उस ज्ञान की प्रमाणता की पद्धति जुदी है। श्रुतज्ञान दो प्रकार के हुए—एक परार्थानुमान रूप श्रुतज्ञान और दूसरा आसोपदेश के कारण जो अर्थज्ञान हुआ वह श्रुतज्ञान आसोपदेश से हुए श्रुतज्ञान को आगम कहते हैं और परार्थानुमान वाले श्रुतज्ञान को श्रुत कहते हैं। आगम भी श्रुत है और परार्थानुमान भी श्रुत है। इस प्रकार तीन प्रमाण तो मानने ही पड़ते होंगे—प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुतज्ञान।

उपपत्तिपूर्वक दर्शनप्रसिद्ध ६ परोक्ष प्रमाणों का प्रतिपादन—जैसे स्मरण प्रत्यभिज्ञान और तर्क का मतिज्ञान में अन्तर्भाव है। तो यों अन्तर्भाव करके फिर दो ही ज्ञान रहे—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सो परोक्षज्ञानों में दो ज्ञान आये—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान स्वाधीन है, इन्द्रिय और मन से निरपेक्ष है। वह केवल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। जिसके भेद तीन हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। तो इस तरह इन सभी ज्ञानों का पराधीनता और स्वाधीनता के नाते से प्रकार बनाने से दो प्रकार होते हैं—एक परोक्षज्ञान और दूसरा प्रत्यक्षज्ञान। अब यदि कोई ऐसी आशंका रखे कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क—ये सब अनुमान के ही रूपक हैं, और ऐसी आशंका रखने का कारण यह हो सकता है कि जैसे प्रत्यक्ष के समान अनुमान में प्रमाणता नहीं है, उसी प्रकार स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ज्ञान में भी स्पष्टता नहीं है। सो यहाँ एक देश स्पष्टता और अस्पष्टता के नाते से तो दो भेद किए जा सकते हैं—विशदपरोक्ष और अविशदपरोक्ष। लेकिन अविशदपरोक्ष में साधन-सामग्री के भेद से और विषय के भेद से भेद होते हैं। जैसे अनुमान का सामग्री है अविनाभाव हेतु और स्मरण का सामग्री है मन के द्वारा पूर्व में अनुभव किए गए विषय की याद। तो साक्षात् विषय में भी भेद है और सामग्री में भी भेद है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान का विषय न तो पूर्वकालीन विषय है और न वर्तमानकालीन विषय है। किन्तु पूर्व और वर्तमान के बीच रहने वाला एकत्र विषय है, जिसको न प्रत्यक्षज्ञान जानता, न स्मरण ज्ञान जानता, न अनुमान जानता और जो सावश्य प्रत्यभिज्ञान आदिक है जैसे रोझ को देखकर गाय का स्मरण हुआ और यह जाना कि यह तो गाय के समान है, तो यह कह कर जाने वह तो प्रत्यक्ष है और गाय का ख्याल आया वह स्मरण है, किन्तु यह गाय के समान है, ऐसा जो उन दोनों के बीच सदृशता का ज्ञान है वह सदृशता न प्रत्यक्ष का विषय है, न अनुमान का है और न स्मरण का है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान का विषय जुदा है। इसी प्रकार तर्क ज्ञान का भी विषय इन सबसे जुदा है। तर्क ज्ञान में जाना जाता है कि जहाँ-जहाँ साधन है वहाँ-वहाँ साध्य होता है। जहाँ साध्य नहीं होता वहाँ साधना नहीं होता। तो इस तर्क ज्ञान के तो साधारणतया सामान्यरूप से सभी साधनों का बोध किया और साध्य की अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति बनाया। यह विषय न तो प्रत्यक्ष का है, न अनुमान का है, न स्मरण का है और न प्रत्यभिज्ञान का है। तो यों विषय के भेद से इन सब ज्ञानों में भेद है। इस कारण इसके अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। हाँ, अविशदज्ञान से अन्तर्भूत कर लें तो उसका अविशद ज्ञान बोला जायेगा तो वहाँ अनुमान भी न बोलना चाहिए। जैसे स्मरण प्रत्यभिज्ञान और तर्क अविशदज्ञान से सम्बोधित किया गया ऐसे ही अविशदज्ञान से सम्बोधित हो गया। इस प्रकार परोक्षज्ञान में सांव्यवहारिक प्रत्येक स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान—ये ५ प्रकार आते हैं। परार्थानुमान श्रुतज्ञान है और बीतराग सर्वज्ञ महर्षि संतों द्वारा उपदेश किए

गए वचनों से जो अर्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। इस प्रकार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान तथा श्रुतज्ञान इस तरह से ही ये ६ ज्ञान परोक्ष ज्ञान मानना चाहिए।

उपमान अभाव आदि बुद्धियों का उक्त प्रमाणों में अन्तर्भाव बताते हुए प्रकरण का उपसंहार—इनके अतिरिक्त अन्य दार्शनिक कोई उपमान ज्ञान मानते हैं तो वह उपमान ज्ञान तो साहश्य प्रत्यभिज्ञान में ही सम्मिलित होता है अथवा उस उपमान ज्ञान की ऐसी पद्धति अनुमान के ढंग में है तो अन्य ज्ञानों में सम्मिलित होता है। जो ज्ञान विषय किया उनके भिन्न विषय वाला उपमान ज्ञान नहीं है। कोई दार्शनिक कहता है कि एक अभाव नाम का भी प्रमाण होता है। जैसे जहाँ जो चीज नहीं है उसका अभाव ज्ञान लें तो अभाव ज्ञान भी तो प्रमाण है। इसको भी अलग से कहना चाहिए। सो इस विषय का समाधान यह है कि यद्यपि अभाव ज्ञान कई प्रकार से होता है, जैसे पूर्वपर्याय में उत्तरपर्याय का अभाव, उत्तर पर्याय में पूर्वपर्याय का अभाव वर्तमान की दो पर्याय में परस्पर का एक का दूसरे में अभाव और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में आत्यंतिक अभाव। सो अभाव के प्रकार यद्यपि चार हैं तो भी ये सभी अभाव किसी दूसरे के सद्भावरूप ही होते हैं। असत् प्रमेय नहीं हो सकता, ज्ञान का विषय सत् ही है। असत् विषय नहीं है। तो जितने भी अभाव हैं वे सब किसी के सद्भाव रूप होते हैं। जैसे प्रागभाव में यह जानें कि घट का प्रागभाव पूर्वपर्याय याने मिट्टी का लौंदा तो घट का प्रागभाव मिट्टी का लौंदा देखकर ही तो विषय किया। उसे समझकर ही तो जाना गया अथवा घट का प्रध्वंसाभाव खपरिया है। तो खपरियों का सद्भावरूप ही तो घट में अभाव पड़ा, एक दूसरे का परस्पर में जो अभाव है पर्याय का वह जिसके बीच की बात कहे वह दूसरे के सद्भावरूप पड़ता है और द्रव्यों में जिस द्रव्य का जिसमें अभाव बताया जाये उसका सद्भाव रूप पड़ता है तो जो सत् पदार्थविषयक ज्ञान है वह। प्रत्यक्ष स्मरण आदिक जो ज्ञान बताये गए उन ही के विषयभूत बनते हैं। इस प्रकार मूल में तो इसका ज्ञान है परोक्ष और प्रत्यक्ष और उनके प्रकार किए जाएं तो परोक्ष के दो प्रकार हैं—एक देश विशद और अविशद। अविशद चार प्रकार के हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तक और स्वार्थानुमान, इन सबसे अतिरिक्त है श्रुतज्ञान, यह तो परोक्षज्ञान है और प्रत्यक्षज्ञान पारमार्थिक है, जिसका भी अलग सूत्र में वर्णन आयेगा।

ज्ञान के भेद प्रभेद स्वरूप के वर्णन का आधारभूत प्रकरण—इस मोक्षशास्त्र में संसारी श्रेणियों के संसार से छुटकारा दिलाने का उपाय कहा है। वह उपाय है जिसका छुटकारा करना है उसके सहजस्वरूप का ज्ञान और विश्वास तथा उस ही में रम जाना। कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से छुटकारा पाता है तो इसी तरह तो पाता है कि वह प्रकट रूप में वही मात्र अकेला रह जाय। तो यह आत्मा जो शरीर व कर्मों से बंधा हुआ है वह अकेला रह जाये, इसका उपाय है इस अकेले सहजस्वरूप का विश्वास, ज्ञान और इस ही स्वरूप में रमण। इस ही को कहते हैं रक्त्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन तो निश्चयतः सहज आत्मतत्त्व का श्रद्धान है और उसका साधन ७ तत्त्वों का श्रद्धान है। यह सम्यग्दर्शन किसके तत्काल उपदेश का निमित्त पाकर होता है तो किसी को उपदेश के बिना भी हो जाता है। सभी सम्यग्दर्शनों में इस जीव को भावरूप से ७ तत्त्वों का श्रद्धान पड़ा हुआ है। जो जीव ७ तत्त्वों का नाम भी नहीं ले पाते उनको भी ७ तत्त्वों में गत एकत्व का श्रद्धान अवश्य है। भावरूप से उनको यह परिचय है। परपदार्थों में लक्ष्य लेने से आस्रव

बंध होते हैं। स्व में लक्ष्य होने से सम्बर निर्जरा होती है। जैसा पदार्थ का स्वरूप है वैसा ही ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है। और रागद्वेष जो संसार में रुलाने वाले हैं उनकी निवृत्ति हो जाना सम्यक्चारित्र है। इस तरह से सब तत्वों का परिचय प्रमाण और नयों से होता है। इसका व्यवहार चार निक्षेपों से होता है। व्यवहार जहाँ ठीक चल रहा है वहाँ प्रमाण और नय की गति भी चलती है। प्रमाण और नयों के द्वारा सम्यग्ज्ञानतया जानकारी बनती है और उस ही के विशेष हैं अन्य उपाय। जैसे वस्तु का निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण स्थिति और विधान बताना। वस्तुस्वरूप को और विशेषरूप से जानना है तो सत् संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प बहुत्व—इन उपायों से भी परिचय करना होता है। वस्तु के परिचय का उपाय बताकर जो उपाय है वह सब ज्ञानरूप है। अतएव ज्ञान के संबंध में कुछ स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। उसी को कहते हैं कि यह ज्ञान ५ ज्ञानरूप है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ज्ञान इन ५ पर्यायों में रहता है। ज्ञान ही प्रमाण है अज्ञान कभी प्रमाण नहीं बन सकता। हम ज्ञान के सम्बन्ध में अनेक दार्शनिक अनेक प्रकार की धारणा बनाते हैं। कोई ज्ञान को किसी अन्य ज्ञान से जानना मानते हैं। कोई ज्ञान को अनेक प्रकार की जड़-सामग्री से उत्पन्न होना मानते हैं, लेकिन ज्ञान स्वयं जब प्रकाशस्वरूप है तो उस ही ज्ञान को उसी ही रूप में जानने और अनुभवने के लिए स्वयं समर्थ हैं, अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। ज्ञान तो एक ही प्रकार से बर्तता है, किन्तु अनादिकाल से रागद्वेष मलीमस होने के कारण जो अज्ञान में बर्त रहा है और विषय संस्कार में चल रहा है उपयोग इसका, सो पर के अभिमुख हो जाने के कारण ज्ञान से विमुख होने के कारण कुछ ज्ञानविकास के लिए यह परतंत्र स्थिति में इन्द्रिय और मन साधन होते हैं। भले ही इन्द्रिय और मन साधन हो, फिर भी ज्ञान ज्ञान से ही प्रकट होता है, किसी अन्य से प्रकट नहीं होता। यह ज्ञान जिस-जिस ज्ञानावरण का अलगाव होता जाता है वैसे ही विशेष-विशेष विकास होता जाता है और जहाँ सम्पूर्णतया ज्ञानावरण का विकास हो जाता है वहाँ केवल ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसे ये सभी ज्ञान प्रमाण रूप हैं।

प्रमाणों के सम्बन्ध में स्फुट तथ्य का प्रकाशन—ये सभी ज्ञान अपने विषय में प्रमाणभूत और अविषय में अप्रमाण रहते हैं। जैसे मतिज्ञान से जाना जो भी विषय उस विषय के आधारभूत द्रव्य में अनेक अवस्थायें पड़ी हैं, पर शेष अनेक धर्मों की अपेक्षा वह ज्ञान प्रमाण नहीं है। और जिस ज्ञान का विषय जिस अंश में बन रहा है उस विषय में उस अंश से वह प्रमाणभूत होता है। प्रमाण में प्रमाणता कब होती है इस विषय में भी अनेक दार्शनिकों के अनेक प्रकार के ख्याल हैं। किन्हीं दार्शनिकों का ख्याल है कि प्रमाण में प्रमाणता की उत्पत्ति किसी अन्य ज्ञानादिक से होती है और किन्हीं दार्शनिकों का सिद्धान्त है कि प्रमाण में प्रमाणपने की उत्पत्ति स्वयमेव होती है। इस प्रकार प्रमाण में प्रमाणता है, इस प्रकार की जानकारी किसी के सिद्धान्त में पर से होती है। किन्हीं के सिद्धान्त में स्वयं ही होती है। इस प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञान के सम्बन्ध में जैनसिद्धान्त ने यह स्पष्ट किया है कि अभ्यास दशा में तो प्रामाण्य स्वतः होता है और अनभ्यास दशा में प्रामाण्य पर से हुआ करता है। ऐसा प्रमाण के सम्बन्ध में जब सभी दृष्टियों से परिचय हो जाता है तब प्रमाण के विशेषों की सिद्धि सुगमतया बन जाती है। जो अपना और पदार्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान है उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

अब यह लक्षण जिन-जिन विशेषों में पहुंचे वे-वे सब विषय प्रमाण कहलाते हैं। उन प्रमाणों के प्रकारों में प्रामाण्यरूप तो सबमें एक समान है अर्थात् प्रमाणता है और विशेष रूप से चँकि विषयभूत है, सामग्रीभेद है, इस कारण वे सभी ज्ञान नाना प्रकार के बन जाते हैं। और इस आधार से यह ज्ञान दो प्रमाणरूप मूल में बना। एक तो वह ज्ञान जो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा कर उत्पन्न होता है और एक वह ज्ञान जो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु मात्र आत्मा से उत्पन्न होता है, उस ज्ञान का नाम है प्रत्यक्ष।

ऐसा प्रमाण दो ज्ञानरूप हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष ज्ञानों में एक इन्द्रियजन्य मतिज्ञान एकदेश स्पष्ट रखने के कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है। वस्तुतः वह भी परोक्ष है। ऐसा परोक्षज्ञान मति, स्मरण, संज्ञा, तर्क और अनुमान—इन भेदों से ५ प्रकार का होता है। ये ५ प्रकार के ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। प्रत्यक्षज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, इस प्रकार तीन प्रकार का है। ऐसा 'तत्प्रमाणे' इस सूत्र में द्विवचनरूप रखे गए प्रमाण शब्द से यह अर्थ ध्वनित हुआ कि वह नाम दो प्रमाणरूप है। हम आप लोगों को जब कभी भी बड़े निश्चयपूर्वक ज्ञान होता है तो वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान में से है और यदि अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो उस रूप, भी प्रकट होता है। हमें यहाँ यह बोध रखना चाहिए कि चाहे कितने ही प्रकार के साधनों में ज्ञान की उत्पत्ति हुई है मगर ऐसे निमित्तनैमित्तिक योग के सम्बन्ध में भी यह बात स्पष्टतया जाहिर रहती है कि ज्ञान अपने ही ज्ञानस्वरूप को लेकर अपने ही ज्ञानस्वभाव के स्रोत से उत्पन्न हुआ है। इस तरह प्रमाण का मौलिक प्रकार बताया गया है। अब प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष का वर्णन करने के लिए आगे सूत्र कहेंगे।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त ॥